राजपूतानेके जैनवीर

(सचित्र, ऐतिहासिक)

लेखक—

अयोध्याप्रसाद गोयलीय "दास"

भूमिका लेखक—

रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

प्रकाशक—

हिन्दी विद्या मन्दिर

पहाड़ी-धीरज, देहली।

प्रथमावृत्ति } चैत्र १९९० विक्रम { मूल्य

वीर नि० सं० २४५९

अप्रैल १९३३ ई० { दो रुपया

मुद्रक—गयादत्त प्रेस, क्लौथ मारकेट देहली।

लेखक की रचनायें

१	संगठन का बिगुल	पृ० ३२	मूल्य एक आना
२	दास पुष्पाञ्जली	,, ६४	,, चार आना
३	दास कुसमाञ्जली	,, १६	,, एक आना
४	उजलेपोश बदमाश	,, ३२	,, एक आना
५	अबलाओं के आँसू	,, ८०	,, चार आना
६	विश्वप्रेम और सेवा धर्म	,, ३२	,, एक आना
७	जैनवीरोंकाइतिहास और हमारापतन	१६०	,, चार आना
८	मौर्य साम्राज्य के जैन-वीर	पृ० १७६	,, छह आना
९	राजपूताने के जैन-वीर		,, दो रुपया
१०	गुजरात के जैन-वीर	अप्रकाशित	
११	दक्षिण के वीर	,,	
१२	सम्राट् खारवेल	,,	
१३	अहिंसा और कायरता	,,	
१४	हमारा उत्थान और पतन	,,	
१५	अग्रवाल जाति का विशाल इतिहास	,,	

हिन्दी विद्या मन्दिर

पहाड़ी-धीरज, देहली।

गुरु यति ज्ञानचन्दजी

और

उनके शिष्य राजस्थान के अमर लेखक कर्नल जेम्स टॉड

समर्पण

महात्मा टॉड ने राजस्थान का इतिहास लिखकर भारत का उपकार किया है। उनको सब जानते हैं, पर जो वास्तव में उसके मूल हैं, जिन्हें कर्नल टॉड ने स्पष्ट रूप में अपना ऐतिहासिक गुरु स्वीकार किया है, जिनके पाण्डित्य की उसने भूरि-भूरि प्रशंसा की है; पर जिन्होंने स्वयं अपने को परिचित और प्रसिद्ध बनाने की कभी चिन्ता नहीं की, जो अद्यावधि हम सब के निकट अज्ञात् हैं। और जिनका वास्तव में इतना उपकार हम सब पर है कि उनकी स्मृति में ग्रन्थमाला निकाल कर, पुरातत्त्व विभाग आदि खोल कर भी हम उऋण न हो सकें, जिनका स्मारक हम खड़ा कर सकें तो भी थोड़ा है, और जिनको भूलकर ही हम, उलूक-वाहन लक्ष्मी के उपासकों ने अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया है? जो लेखक के इस श्रम के स्रोत और इस पुस्तिका के यथार्थ जनक हैं; उन स्वर्गीय राजस्थानीय यती श्री ज्ञानचन्द्जी जैन की पवित्र स्मृति में एक भक्त "दास" द्वारा समर्पित।

धन्यवाद

हिन्दी विद्या मन्दिर के स्थापन में धर्मनिष्ठ पं० महावीरप्रसादजी जैन और आयुर्वेदाचार्य भाई मामनचन्द प्रेमी ने अत्यन्त परिश्रम किया है। और निम्न दानी महानुभावों ने इस संस्था के प्रकाशन विभाग में द्रव्य की सहायता दी है, इस कृपा के लिये हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। —व्यवस्थापक

५०) श्री० लाला काँशीराम हंसराज ओसवाल, सदर देहली।
५०) " " घमण्डीलाल नन्हेमल कसेरे " ।
५०) " " कुंजीलाल कुन्दनलाल आढ़ती, नयाबाजार।
५०) श्री० बाबू गिरधरलाल रिटायर्ड पोष्टमास्टर देहली।
५०) श्री० लाला झुन्नूमल साहब जौहरी देहली।
५०) जैनसमाज पानीपत मा० ला० रूपचन्द गार्गीय।
३६) श्री० लाला जैनीलाल कागजी चावड़ी बाजार देहली।
३६) " " चौधरी बलदेवसिंह सर्राफ दरीबाकलां-देहली।
२१) " बाबू नेमिदास शिमलेवाले
१५) " लाला अमानतराय निरंजनसिंह कटरा धूलिया।
११) " " कबूलसिंह मंगतराय पहाड़ी धीरज-देहली।
११) " " मालीराम साँवलदास घण्टेवाले हलवाई " ।
१०) " " रतनलाल सुलतानसिंह जौहरी देहली।
१०) " " कुड़ियामल बनारसीदास सूतवाले सदर "।
१०) " " नाहरसिंह
१०) " " दौलतराम गार्गीय कटरा धूलिया-देहली।
१०) " " देशराज करोड़ीमल " " ।
१०) " " गंगाराम गगनमल " " ।
७) " " चन्दुलाल देहली।
५) " " शिवनाथराय पहाड़ीधीरज-देहली
५) " बाबू रामचन्द्र जैन बी०ए० " "
५) " " उमरावसिंह कटरा धूलिया देहली
५) जैनसमाज छपरौली जि० मेरठ मा० ला० मंगतरायजैन।

विषय-सूची

चित्र-सूची

प्रत्येक सभ्य जाति में वीर पुरुषों का सदा से सम्मान होता चला आता है और आगे भी होता रहेगा। वीरता किसी जाति विशेष की सम्पत्ति नहीं है। भारत में प्रत्येक जाति में वीर पुरुष हुए हैं, परन्तु इतिहास के अभाव में उनमें से अधिकाँश के नाम तक लोग भूल गये हैं। राजपूताना सदा से वीरस्थल रहा है, उस के प्रत्येक भाग में वहाँ की वीर संतानों ने अपने देश व स्वाधीनता की रक्षा के लिये तथा परोपकार की वृत्ति से प्रेरित हो अनेकों बार अपना रक्त बहाया है, जिसकी स्मारक शिलाएँ जगह जगह पर खड़ी हुई हैं, जो उनकी वीर गाथाओं को प्रकट कर रही हैं। जैन-धर्म में दया प्रधान होते हुए भी वे लोग अन्य जातियों से पीछे नहीं रहे हैं। शताब्दियों से राजस्थान में मंत्री आदि उच्च पदों पर बहुधा जैनी रहे हैं और उन्होंने अपने दायित्वपूर्ण पद को निभाते हुए अनेकों कार्य ऐसे किये हैं, जिनसे इस देश की प्राचीन तक्षण कला की उत्तमता की रक्षा हुई है। उन्होंने देश की आपत्ति के समय महान् सेवाएँ की हैं, जिनका वर्णन इतिहास में मिलता है। उनमें से अनेकों के चरित्र तो अब तक मिले ही नहीं हैं और जो मिलते हैं वे भी अपूर्ण, जिनका इतिहास पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस अवस्था में जो कुछ सामग्री प्राप्त है, उस ही के पर निर्भर रहना पड़ता है; क्योंकि अब तक जैन जगत् में का अनुराग बहुत कम उत्पन्न हुआ है।

जिस प्रकार गुजरात के प्रसिद्ध जैन वीर विद्वान् और दानी

मंत्री वस्तुपाल के कई चरित्र ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं, वैसे राजपूताने के जैन-वीरोंके नहीं मिलते, यदि मिलते हैं तो नाम मात्र के। राजपूताने में यह नियम प्राचीन काल से ही चला आता है कि राजकर्मचारी चाहे जैन हो चाहे ब्राह्मण, तो भी उसको यथा अवसर युद्ध में भाग लेना पड़ता था। इसी से राजपूताने के कई जैन-वीरोंने युद्धके अवसरों पर यथासाध्य अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है यह निर्विवाद है। उनके चरित्रों को एक ही स्थल पर संग्रह करना साधारण कार्य नहीं है। इसके लिये पुरातन शिलालेखों एवं प्राचीन पुस्तकों को पढ़कर उनका आशय जानना भी श्रम साध्य कार्य है, जिसका महत्त्व वे ही लोग जानते हैं, जिनको यह कार्य करना पड़ता है।

श्री० अयोध्याप्रसादजी गोयलीय ने कतिपय छपी हुई पुस्तकें और कुछ इधर उधर जाकर अप्रकाशित पुस्तकों के आधार पर राजपूताने के कई जैन वीरों के चरित्रों को बटोर कर यह पुस्तक तैयार की है। सामग्री का अभाव होने के कारण कई प्रसिद्ध जैन वीरों का उल्लेख ही नहीं हुआ है। तो भी गोयलीयजी का परिश्रम सराहनीय है। उन्होंने राजपूताने में जितने भी प्रसिद्ध जिनालय हैं, उनका यथासाध्य वर्णन किया है, जिससे जैन यात्री भी लाभ उठा सकेंगे। राजपूताना के लिये गोयलीयजी का यह प्रारंभिक कार्य है। कार्य साधारण नहीं है; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन को परिश्रम भी बहुत करना पड़ा है। यह संग्रह आगे बढ़ने पर शिक्षाप्रद होकर जैन जगत् में स्फूर्ति पैदा करेगा और इससे कई अज्ञात् जैन वीरों के चरित्र प्रकाश में आवेंगे।

प्रारंभिक कार्य त्रुटियों से खाली नहीं होता। गोयलीयजी से भी कई स्थलों पर त्रुटियें होना स्वाभाविक है। जिनमें से कुछ का हम यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। ये त्रुटियें दोष

दृष्टि से नहीं दिखलाई जातीं, प्रत्युत् इस भाव से कि आगामी संस्करण में ऐसी त्रुटियें न रहें।

(क) पृ० ८० में भारमल कावड़िया को महाराणा सांगा ने वि० सं० १६१० (ई० स० १५५३) में अलवर से बुलवा कर रणथंभोर का क़िलेदार नियत करना लिखा है। परन्तु महाराणा साँगा का देहांत वि० सं० १५८४ (ई० स० १५२८) में हो चुका था। ऐसी दशा में भारमल को वि० सं० १६१० में महाराणा सांगा का अलवर से बुलाकर रणथंभोर का क़िलेदार बनाना इतिहास से विरुद्ध है।

(ख) पृ० १९५ में लिखा है कि राठोड़ राव सीहाजी के पुत्र आस्थानजी ने सं० १२३७ में मारवाड़ आकर परगने मालानी के गांव के खेड़ में अपना राज्य स्थापित किया। प्रथम तो संवत् में ही भूल है। राव सीहाजी का देहांत वि० सं० १३३० में होना उनके मृत्यु स्मारक लेख से सिद्ध है, जो छप चुका है। फिर उनके पुत्र का वि० सं० १२३७ में राज्य पाना क्यों कर संभव हो सकता है? दूसरा आस्थानजी के लिये परगने मालानी के गांव के खेड़ में राज्य स्थापित करना लिखा। इसका कुछ भी अभिप्राय समझ में नहीं आता। यदि इस जगह खेड़ गांव या प्रदेश लिखा जाता तो ठीक होता और वास्तविक अभिप्राय भी निकल आता।

इस ही प्रकार कहीं कहीं उद्धृत किये हुए संस्कृत के शिलालेखों में भी असावधानी हुई है, जो खटकती हुई है। लेखक ने कहीं कहीं धार्मिक प्रवाह में वहकर खींचतान भी की है। इतना होते हुए भी पुस्तक उपादेय है। आशा है प्रत्येक जैनधर्मावलंबी इस पुस्तक को अपने पुस्तकालय में स्थान देकर लेखक के उत्साह को बढ़ावेंगे, ताकि इसके आगे के भाग भी प्रकाशित हो सकें।

१३-४-३३]

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

वक्तव्य।

नहीं मिन्नतकशे ताबे शुनीदन दास्ताँ मेरी।
खमोशी गुफ्तगू है, बेज़बानी है ज़बां मेरी॥
मेरा रोना नहीं, रोना है यह सारे गुलिस्तां का।
वह गुल हूँ मैं, खिज़ां हर गुलकी है गोया खिज़ां मेरी॥

—"इक़बाल"

अल्पवयस्क और अनुभवहीन होने के नाते मुझे इतिहास के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार नहीं, तो भी मैं मान्य रवीन्द्रनाथ के शब्दों में कहूँगा कि, "सब देशों के इतिहास एक ही ढङ्ग के होने चाहियें—यह कुसंस्कार है। इस कुसंस्कार को छोड़े बिना काम नहीं चल सकता। जो आदमी 'रथ चाइल्ड' का जीवन-चरित्र पढ़ चुका है, वह ईसा की जीवनी पढ़ते समय ईसा के हिसाब-किताब का खाता और डायरी तलब कर सकता है और यदि ईसा की जीवनी में उनके हिसाब-किताब का खाता तथा डायरी वह न पावेगा तो, उसे ईसा के प्रति अश्रद्धा होगी। वह कहेगा कि जिसके पास एक पैसे का भी सुभीता न था, उसकी जीवनी कैसी? ठीक इसी तरह भारतवर्ष के राष्ट्रीय दफ्तर से उसके राजाओं की वंशमाला और जय-पराजय के काग़ज़ पत्र न पाकर लोग निराश हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि—

"जहाँ राजनीति नहीं, वहाँ इतिहास का क्या ज़िक्र ?" वे सचमुच ही धान के खेत में बैंगन ढूंडने जाते हैं और वहाँ बैंगन न पाकर धान की गिनती अन्न में ही नहीं करते। सब खेतों में एक ही चीज़ नहीं होती, यह समझकर जो लोग स्थान के अनुसार उपयुक्त खेत से उपयुक्त अन्न की आशा करते हैं, वे ही समझदार समझे जाते हैं † "।

"यह सर्वथा ठीक है कि आज कल इतिहास का जो अर्थ किया जाता है (अर्थात् दूसरों के साथ मुक़ाबिला तथा संग्रामों का वर्णन आदि) उस अर्थ में भारतवर्ष का इतिहास नहीं पाया जाता। प्राचीन काल में आर्यावर्त कभी इस प्रकार का देश न था, जो दूसरों से युद्ध करके अपनी उन्नति करता। भारतीयों की उन्नति की अपनी विशेष रेखा थी। यह निश्चय करने के पूर्व कि भारतवर्ष का कोई इतिहास है या नहीं, हमें यह जानना चाहिये कि भारतवर्ष के इतिहास की कौनसी रेखा है ? उस रेखा का निश्चय करके उस के अनुसार इतिहास लिखा जा सकता है " +।

भारतवासी सदा से अध्यात्म-प्रेमी रहे हैं, यही कारण है कि उनके सम्बन्ध में मार-काट, खून-ख़राबे का वर्णन नहीं मिलता। उन्होंने इस रक्तरंजित पृष्ठ के लिखने में आवश्यकता से अधिक उपेक्षा रक्खी है। भारत में युद्ध न हुए हों, अथवा भारतवासी इस ढंग का इतिहास लिखना ही नहीं जानते थे; यह बात नहीं। भारत

---

† स्वदेश पृष्ठ ३२।

+ भारतवर्ष का इतिहास पृ० २९।

में महाभारत जैसे संसार प्रसिद्ध युद्ध और व्यास, वाल्मीक, तुलसी, जिनसेनाचार्य जैसे इतिहासकार हुये हैं। पर, भारत के युद्धों और विदेशों के युद्धों में पृथ्वी-आकाश का अन्तर रहा है। राज्य-लिप्सा के लिये सैकड़ों माताओं को पुत्रहीना कर देना, बालक बालिकाओं को अनाथ बना देना; सती नारियों को भरी जवानी में वैधव्य का दुःख देना, देशभर में घोर भय फैला देना, भारतवासियों ने पाप समझा है। हाँ आत्म-रक्षा के लिये, सतीत्व रक्षा के लिये और धर्म-रक्षा के लिये युद्ध अवश्य किये हैं; वह भी उस समय जबकि युद्ध करने के सिवाय और कोई दूसरा उपाय ही नहीं था। भारतवासियों ने युद्ध शान्ति-भंग के लिये नहीं, अपितु शान्ति-रक्षा के लिये किये हैं। जो जाति सुख से शान्ति की गोद में निद्रा लेती रही हो, उसे भारतवासियों ने कभी छेड़ा हो—निश्चिन्त हृदयों में आतङ्क पहुँचाया हो—ऐसा उदाहरण एक भी नहीं मिलता। इसी प्रकार भारतीय उक्त इतिहासकारों और विदेशीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर रहा है। भारतीय ग्रन्थकारों ने कभी अपने साहित्य से किसी देश व जाति को पराधीन एवं प्रतिभा और साहसहीन बनाने की दुरेच्छा नहीं की, अपितु जो भी लिखा वह प्राणीमात्र की कल्याण-कामना को लेकर लिखा। यही कारण है कि आज अनेक भारतीय ग्रंथ संसार की प्रत्येक भाषा में अनवादित होकर पूर्वकालीन भारतीयों की प्रखर प्रतिभा का परिचय दे रहे हैं।

जैनधर्म पूर्ण रूपेण आत्मा का धर्म है, इसीलिये जैनधर्मानु-

याई भी अध्यात्म-प्रेमी रहे हैं। इनके यहाँ षट् द्रव्य (१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश और ६ काल) का विषद् विवेचन मिलता है। जैन-आचार्यों ने जिस विषय पर भी लिखा है वह अपने ढंग का अनूठा और बेजोड़ है, पर अध्यात्म पर सबसे अधिक लिखा है। जैनाचार्यों ने युद्ध आदि रागात्मक विषयों के वर्णन में हिन्दू-ग्रन्थकारों की अपेक्षा और भी अधिक उदासीनता रक्खी है। पौराणिक काल को जाने दीजिये, अशोक का प्रतिद्वन्द्वी सम्राट् खारवेल जो कि प्रसिद्ध जैनधर्मी हुआ है, उसके सम्बन्ध में जैनग्रन्थों में एक शब्द भी नहीं मिलता। इसी प्रकार मान्यखेट का राठौड़-वंशी राजा अमोघवर्ष भी जैनी हुआ है और यह प्रसिद्ध ग्रन्थकार जिनसेनाचार्य का शिष्य था, फिर भी स्वयं जिनसेनाचार्य ने अथवा और किसी ने इसके विषय में कुछ नहीं लिखा। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि इन राजाओं के सम्बन्ध के शिलालेख आदि न मिलते तो आज इतिहास के पृष्ठों में इनका अस्तित्व तक न होता।

फिर भी जैनधर्म के शिलालेखों, स्थविरावलियों, पट्टावलियों और ग्रन्थों † में भारतवर्ष के इतिहास की सामग्री बिखरी हुई

---

† द्वाश्रयकाव्य, परिशिष्टपर्व, कीर्तिकौमुदी, वसन्तविलास, धर्माभ्युदय, वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति, सुकृतसंकीर्तन, हम्मीरमद मर्दन, कुमार विहार-प्रशस्ति, कुमारपाल-चरित्र, प्रभावक-चरित्र, प्रबन्धचिन्तामणि, श्रीतीर्थकल्प, विचारश्रेणी, स्थविरावली, मच्छप्रबन्ध, महामोहपराजय नाटक, कुमुदचन्द्र प्रकरण, प्रबन्धकोष, तीर्थमालाप्रकरण, उपदेशसप्ततिका, गुर्वावलि, महावीर प्रशस्ति, पंचाशतिप्रबोध सम्बन्ध, सोमसौभाग्यकाव्य, गुणगणरत्नाकरकाव्य, प्रवचनपरीक्षा, जगद्गुरुकाव्य,

पड़ी है। पर आज हमें इससे सन्तोष नहीं हो सकता। अध्यात्म-वाद की जगह अब आधिभौतिकवाद (पुद्गलवाद) ने लेली है। अतएव आधिभौतिक वाद का मुक़ाबिला करने के लिए अथवा आधिभौतिक संसार में इज्ज़त-आबरू से जीने के लिए हमें आधि-भौतिकवादियों जैसा इतिहास निर्माण करना ही होगा। यही समय का तकाज़ा है।

प्रस्तुत पुस्तक में अधिकांश खून-खराबे और मार-काट का ही वर्णन पढ़ कर पाठक मुझे अशान्त, क्रूर-हृदय, युद्ध-प्रेमी समझेंगे, पर बात इससे बिल्कुल भिन्न है। मैं पूर्णतया शान्ति, अहिंसा और विश्वप्रेम का उपासक हूँ। मैं युद्ध से होने वाले कुपरिणामों से अनभिज्ञ नहीं, युद्ध सभ्य जाति और सभ्य देशों के लिये कलंक है, मैं कभी देश के होनहार बालकों के मस्तिष्क में युद्ध सम्बन्धी संस्कार नहीं भरना चाहता। मेरी अभिलाषा है कि संसार से शस्त्रवाद का नाम ही उठजाय, आत्मिक-बल के आगे शारीरिक बल का प्रयोग करना ही लोग भूल जाँय! पर, यह तभी हो सकता है, जब सबल राष्ट्र—बलवती जातियाँ—निर्बल राष्ट्रों—अल्प संख्यक जातियों—को हड़प जाने की दुरेच्छा का अन्त करदें।

उपदेश तरंगिणी, हरिसौभाग्यकाव्य, श्रीविजयप्रशस्ति काव्य; श्रीभानुचन्द्रचरित्र, विजयदेवमहात्म्य, दिग्विजय महाकाव्य, देवानन्दाभ्युदयकाव्य, जगडुचरित्र, सुकृतसागर, भद्रबाहुचरित्र आदि इन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंके अतिरिक्त भाषा के रास भी बहुत से मिलते हैं जो ऐतिहासिक वृत्तान्तों से भरे पड़े हैं। जैसे:—विमलमंत्री का रास, यशोभद्रसूरि रास, कुमारपाल रास, हरिविजय का रास आदि।

हमारा धर्म शेर बनकर दूसरों को हड़प जाने की आज्ञा नहीं देता, परन्तु वह भेड़ बने रहने की शिक्षा का भी विरोधी है। शेर और भेड़ का कभी मेल हो ही नहीं सकता। भेड़ कितनी ही दया समानाधिकार, विश्वप्रेम आदि का रोना रोये, उसका जीवन सुरक्षित रह नहीं सकता। भेड़ जब तक भेड़ बनी रहेगी उसे खाने के लिये संसार में शेर पैदा होते ही रहेंगे। अतः दूसरों को हड़प जाने के लिये नहीं, अपितु अपनी आत्म-रक्षा के लिये सभी को सजग रहना चाहिये।

जैनियों पर उनके अहिंसा-प्रेमी होने के कारण, अनेक महापुरुषों (?) ने कायरता का दोष लगाया है और अब वह (जैनी) कायर कहलाते कहलाते वास्तव में कायर भी हो गये हैं ‡। उसी कायरता को हटाने के लिये मैंने "जैन-वीर-चरितावलि" के संकलन करने का प्रयत्न किया है। ताकि जैन समझ सकें कि हमारे पुरखा चुपचाप भेड़ों की तरह वध-स्थल में नहीं चले जाते थे,

---

‡ दूसरों के द्वारा अपनी निन्दा निरन्तर सुनते रहने से जातीय इतिहास में अनेक बीभत्स घटनाएँ उपस्थित होती देखी गई हैं। 'महाभारत की कथा में वर्णित है कि, कर्ण को बलहीन करने के लिये उसके सारथी पाण्डव-हितैषी, मद्र-नरेश शल्य ने उसकी बहुत निन्दा की थी। दूसरों के मुँह से रात-दिन अपनी निन्दा सुनते रहने से साधारणतः सब को आत्मग्लानि उपस्थित होती है, लोगों के मन में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि हम अकर्मण्य और हीनशक्ति हैं। ऐसी भ्रान्ति बहुत दिनों तक स्थायी रहने से उन लोगों की बुद्धि नष्ट होने और चरित्र-बल घटने लगता है। इसी से अपनी जाति की निन्दा सुनना पाप अर्थात् अवनति जनक कहा जाता है।

बल्कि उन्हें भी आत्म-रक्षा करना आता था। वह भी धर्म और जाति की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये प्राणों का तुच्छ मोह छोड़ कर जूझ मरते थे।

जो बन्धु मेरे स्वतंत्र और धार्मिक विचारों से परिचित हैं, संभव है वे मेरी इस "वीर-चरितावलि" में जैन शब्द लगा हुआ देख कर चौंकें और कहें कि "यह मज़हबी दीवानगी कैसी ?" ऐसे महानुभावों से निवेदन है कि जैनी भी संसार के एक अंग हैं, उनका अंग भी यहीं की मिट्टी-पानी से बना है। इनके पुरखाओं ने भी अनेक लोक-हित कार्य किये हैं। पर, दुर्भाग्य से वर्तमान जैन अपने स्वरूप से परिचित नहीं; तभी वह कर्तव्य-विमुख हो बैठे हैं। उनका भी इस समय कुछ कर्तव्य है, वह भी देश के एक अग हैं। कोई शरीर कितनाही बलशाली क्यों न हो, जबतक उसका एक भी अंग दूषित रहेगा तब तक वह पूर्ण रूपेण सुखी नहीं बन सकता। इसी बात को लक्ष करके यह सब लिखा गया है। पर जहाँ तक मैं समझता हूँ मैंने इन निबन्धों में मज़हबी दीवानगी को फटकने तक नहीं दिया है। जैन और जैनेतर दोनों ही इसका यकसाँ उपयोग कर सकते हैं। बक़ौल "इक़बाल" साहब के मैंने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है :—

मेरी ज़बाने क़लम से किसी का दिल न दुखे।

बौद्धों की सत्ता भारत से उठ गई है, बौद्ध भारत में नहीं होने के बराबर हैं; फिर भी उनके सम्बन्ध में थियेटरों, सिनेमाओं समाचार-पत्रों और पुस्तकों द्वारा काफ़ी प्रकाश पड़ता है; किन्तु

जैनी भारत में रहते हुये भी उनके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं लिखता, उनके गौरव-प्रतिष्ठा आदि को जाने दीजिये, उनके अस्तित्त्व से भी बहुत कम परिचित हैं। इसके कई कारण हैं। बौद्ध संसार में सब से अधिक हैं, बलशाली भी खूब हैं और राज्य-सत्ता भी उनके हाथ में हैं, इस लिये उनकी ओर संसार का ध्यान आकर्षित होना ज़रूरी है। इसके विपरीत जैनसमाज राज्य-सत्ता खो बैठी है, अपने सहयोगियों—अनुयाइयों—को निरन्तर निकालते रहने के कारण अल्प संख्या में अपने जीवन के शेष दिन पूरे कर रही है ‡। उसका स्वयं बाह्य आडम्बरों के सिवा इस ओर ध्यान ही नहीं है, तब ऐसी मरणोन्मुख साथही चिड़चिड़ी समाज के सम्बन्ध में कोई क्यों और कैसे लिख सकता है। अपने पास इतिहास के अनेक साधन रहते हुये भी उन्हें कंजूस के धन की तरह अनुपयोगी बना रक्खा है। जैन-समाज के श्रीमान् स्वर्गों के प्रलोभन और ज़रासी वाह-वाही के लिये करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष रथयात्रा, बिम्बप्रतिष्ठा, दीक्षा-महोत्सवों में व्यय करते हैं और साहित्य-निर्माण में इस लिये कुछ उत्साह नहीं रखते क्योंकि वह समझते हैं कि इस से परलोक में कोई लाभ नहीं। परलोक और पुण्य के प्रलोभन से किसी भी कार्य के करने का जैनधर्म में निषेध है और गीता में भी निष्काम—फल की इच्छा न रखते हुये—कार्य करने का उल्लेख है।

---

‡ फिरका बन्दी हैं कहीं और कहीं जातें हैं।
क्या ज़माने में पनपने की यही बातें हैं॥
—"इक़बाल"

इबादत करते हैं जो लोग जन्नत की तमन्ना में।
इबादत तो नहीं है, इक तरह की वह तिजारत है॥

--'अज्ञात'

प्रतिष्ठा अथवा पुण्य-बन्ध के लालच को लेकर किसी कार्य के करने में समुचित फल की प्राप्ति नहीं होती। तो भी जो व्यक्ति तिजारत को ध्यान में रखते हुये धर्म कार्य करते हैं; उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि साहित्य के प्रचार का जैनधर्म ने सब से अधिक महत्व माना है। जैनधर्म में कथित आहारदान, औषधिदान, अभयदान का फल भोगने के लिये यह आत्मा किसी भी योनि में रहता हुआ अपने किये हुये दानों का फल प्राप्त कर सकता है; पर "ज्ञानदान" का फल पाने के लिये उसे नियम से मनुष्ययोनि में ही आना होगा; क्योंकि मनुष्य के सिवा और कोई जीव इसका उपयोग नहीं कर पाता। अतएव जैन-समाज के श्रीमानों! यदि तुम्हें सदैव मनुष्य बनना है—नारकी-पशु नहीं बनना है—तो सब आडम्बरों को छोड़ कर ज्ञान-दान करना सीखो, भविष्य सुधारने के लिये उत्तम साहित्य निर्माण करो; अन्यथा बकौल "चकबस्त" साहब—

मिटेगा दीन भी और आबरू भी जायेगी।
तुम्हारे नाम से दुनिया को शर्म आयेगी॥

मैं मन्दिर आदि बनवाने को बुरा नहीं समझता, मैंने स्वयं प्रस्तुत निबन्ध में प्राचीन मन्दिरों का बड़े गर्व से वर्णन किया है; पर इस समय उनकी और अधिक आवश्यकता नहीं। आज

कितने ही प्राचीन मन्दिर धराशायी हो रहे हैं, अनेक जगह मूर्ति की पूजन प्रक्षालन करने वाले मनुष्यों की जगह चूहे और नौल रह गये हैं, अनेक विशाल मन्दिर अपने सच्चे उपासकों का अभाव देखकर दहाड़ मारकर रो रहे हैं फिर भी, उनके करुण क्रन्दन को सुनते हुये अनावश्यक नये नये मन्दिर बनवाने, प्रतिमायें स्थापित करवाने में क्या लाभ है ? यह हमारे श्रीमानों के अंतरंग की बात सिवाय सर्वज्ञदेव के और कौन जान सकता है ?

इतिहास से नीच और कमीन लोगों को मुहब्बत नहीं होती-जिनके पुरखाओं ने कभी कोई आदर्श उपस्थित नहीं किये, वे कभी अपने पुरखाओं को याद नहीं करते। ऐसे ही लोग इतिहास से घृणा करते हैं। पर आश्चर्य तो यह है कि जिनके पुरखाओं-बाप दादों-ने अनेक लोकोत्तर कार्य किये वह भी आज इस ओर से उदासीन हैं।

लोग कहते हैं. भूतकालीन बातों—गढ़े मुर्दों—को उखाड़ने से क्या लाभ ? भूत को छोड़ कर वर्तमान की सुध लेना चाहिये। पर, मेरा विश्वास है कि हरएक क़ौम और देश का, वर्तमान और भविष्य भूत पर ही निर्भर है। जिसका भूत अन्धकार में है उसका वर्तमान और भविष्य कभी उज्ज्वल हो ही नहीं सकता। जिस मकान की नींव दृढ़ नहीं, वह बहुत दिनों तक गगन से बात नहीं कर सकता। इसीलिये भूतकालीन बातें सभी सुनना चाहते हैं। बालक बालिकायें, युवा-युवतियाँ, वृद्ध और वृद्धाएँ सभी फ़ुर्सत के वक्त कहानी कहते और सुनते हैं। भूतकालीन बातें

सुनना मनुष्य की कुदरती फ़ितरत है। अतः जिसके पास अपने यहाँ की भूतकालीन बातें नहीं होतीं वे दूसरों की सुनकर अपना शौक़ पूरा करते हैं। इसी लिये संसार की प्रत्येक जाति अपना भूतकालीन इतिहास निर्माण करती हैं, ताकि उसके पुत्रों को दूसरों का मुँह देखना न पड़े। क्या ही अच्छा हो यदि हमारी समाज भी अपने घर की चीज़ को बर्तने का प्रयास प्रारम्भ करदे। महात्मा गान्धी भी भूतकालीन हरिश्चन्द्र जैसी कहानियों से ही प्रभावित होकर मिस्टर से महात्मा हुये हैं।

क़िस्सये अज़मत माज़ी को न मुहमिल समझो।
क़ौमें जाग उठती हैं अक्सर इन्हीं अफ़सानों से॥
—"रवाँ"

यह मैं मानता हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक को कोई भी समझदार व्यक्ति महत्व नहीं दे सकता और वास्तव में महत्व देने योग्य है भी नहीं इतिहास और साहित्य की दृष्टि से भी इसमें अनेक भद्दी और मोटी भूलों का रहना सम्भव है। इसे एक प्रकार से समस्त राजपूताने के जैन-वीरों का इतिहास भी नहीं कह सकते। इसमें कोटा, बूंदी, जयपुर आदि कई राजपूतानान्तरगत स्थानों का उल्लेख नहीं किया जा सका है। पर, इसमें मेरा तनिक भी दोष नहीं है। रात-दिन परिश्रम करके जितना भी मैं उपलब्ध साहित्य प्राप्त कर सका और गुणियों के जूतों में बैठकर जो भी मैं जान सका, वह सब मैंने प्रस्तुत पृष्ठों में बखेर देने की चेष्टा की है। साधनाभाव और अनुभवहीनता के कारण जो पुस्तक में त्रुटियाँ रह गई हैं उनका मैं जिम्मेदार नहीं। हाँ, प्रमाद और पक्षपात को

मैंने पास तक नहीं फटकने दिया है जो भी कुछ लिखा है सत्य को लेकर लिखा है। संभव है मेरा यह प्रयास असफल रहा हो, फिर भी मैं इतना अवश्य कहूँगा कि—

मैंने लिक्खा है इसे खूने जिगर से अपने।

इसके संकलन करने में जो दुर्दिन देखने पड़े हैं, भगवान् करे मेरे सिवा वह दिन कोई और न देखे। दिल एक प्रकारसे टूट सा गया है †। अपने वचनानुसार ज्यों त्यों करके आज यह कृति मुझे पाठकों के कर कमलों में भेट करते हुए हर्ष होता है। यद्यपि इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं, मैं इसे जैसा चाहता था, वैसा न लिख सका। यदि विद्वान् पाठकों ने पुस्तक में रही हुई त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया और इसके लिये साहित्य सम्बन्धी साधन जुटाने की उदारता दिखाई तो संभवतया उनके सुधार का प्रयत्न किया जायगा।

अन्त में भावना है कि:—

हर दर्दमन्द दिल को रोना मेरा रुलादे।
बेहोश जो पड़े हैं शायद उन्हें जगादे॥

"इक़बाल"

राष्ट्रीय औषधालय
गली बरना, सदर-देहली।
२४—२—३३

दास—
अ. प्र. गोयलीय

---

† कैफ़ियत ऐसी है नाकामी की इस तसवीर में।
जो उतर सकती नहीं आईनये तहरीर में॥

—"इक़बाल"

राजपूताने के जैन-वीर

राजस्थान

जहाँ वीरता मूर्तिमन्त हो हरती थी भूतल का भार।
जहाँ धीरता हो पाती थी धर्म-धुरीण कण्ठ का हार॥
जहाँ जाति-हित बलि-वेदी पर सदा वीर होते बलिदान।
जहाँ देश का प्रेम बना था सुरपुर का सुखमय-सोपान॥
जिस अवनी के बाल-वृन्द ने काटे बलवानों के कान।
चमकी जहाँ वीर-बालाएँ रण-भू में करवाल समान॥
किए जहाँ के नृप-कुल-मण्डल ने कितने लोकोत्तर काम।
जिस लीलामय रङ्ग-अवनि में उपजे नाना लोक-ललाम॥
जिस के एक-एक रज-कण पर लगी राजपूती की छाप।
जिस का वातावरण समझता रण में पीठ दिखाना पाप॥
जिसके पत्ते मर्मर रव कर, रहे पढ़ाते प्रभुता-पाठ।
जिसके जीवन-संचारण से हरित हुआ था उकठा काठ॥

—"हरिऔध"

पढ़के देखो दोस्तो ! इस राजपूती शान को।
मिटते मिटते मिट गये, लेकिन न छोड़ा आन को॥

—अज्ञात्

"राजपूताने में कोई छोटा सा राज्य भी ऐसा नहीं है, जिस में थर्मोपली जैसी रण-भूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहां लियोनिड़ास जैसा वीर-पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

—जेम्स टाड

यूँ तो इस रत्न-प्रभा भारतभूमि का चप्पा-चप्पा धर्म-वीरों के पवित्र बलिदान से दैदीप्यमान है †, यहाँ का प्रत्येक परमाणु अपने सीने में स्वतंत्रता की आग सुलगाये हुये पड़ा है; फिर भी राजपूताने का निर्माण तो खास कर शहीदों की हड्डियों और रक्त से मिलकर हुआ है। भारत के उन दुर्दिनों में—जब कि वह परतंत्रता के बन्धन में जकड़ा जा चुका था, उसकी चोटी-बेटीन की रक्षा का कोई उपाय नहीं था, तब—यहाँ की आन पर मर मिटने के लिये राजपूताने ने जो आत्मोत्सर्ग किया था, वह चिथड़ों के

---

† चमकता है शहीदों का लहू परदे में क़ुदरत के।
शफ़क़ का हुस्न क्या है, शोख़िये रंगे हिना क्या है?॥

—"चकबस्त"

वने काग़ज़ पर लिखने की चीज़ नहीं। आज इस परतन्त्रता युग में भी, जब राजपूताने की अभूतपूर्व वीरता, धीरता, त्याग और शौर्य का वर्णन पढ़ते हैं तो आँखें मस्ती में नाचने लगती हैं, हृदय मारे स्वाभिमान के उछलने लगता है, छाती फूल उठती है, रोमाँच हो आते हैं और ऐसा भान होने लगता है कि हम भी सीना तान कर निकलने का अधिकार रखते हैं।

वर्तमान में इस इतिहास-प्रसिद्ध राजपूताने में १९ देशी रियासतें, लावा और कुशलगढ़ नामक दो खुदमुख्तियार ठिकाने तथा ब्रिटिश इलाक़ा—अजमेर (मेरवाड़ा) और आबू पहाड़ सम्मलित हैं। इसका क्षेत्रफल १, ३१, ६९८ वर्गमील है और इसमें क़रीब १॥ करोड़ लोग बसते हैं। निम्न लिखित तालिका में राजपूताने की सब रियासतों के नाम उनके क्षेत्रफल और वर्तमान शासकों की जाति का विवरण दिया जाता है।

संख्या	नाम रियासत	राजा की जाति	क्षेत्रफल	
१	जोधपुर (मारवाड़)	राठौड़ राजपूत	३५,०१६	वर्गमील
२	बीकानेर (जांगल)	,,	२३,३१५	,,
३	जैसलमेर (माड)	भाटी यादव	१६,०६१	,,
४	जयपुर (ढूंढ़ाड)	कछवाहा	१५,५१९	,,
५	उदयपुर (मेवाड़)	गहलोत	१२,७५६	,,
६	कोटा (हाड़ोती)	हाडा चौहान	५,६८४	,,

संख्या	नाम रियासत	राजा की जाति	क्षेत्रफल
७	अलवर	कछवाहा	३,१४१ वर्गमील
८	टोंक	पठान मुसलमान	२,५५३ ,,
९	बून्दी (हाड़ोती)	हाडा चौहान	२,२२० ,,
१०	भरतपुर	जाट	१,९८२ ,,
११	सिरोही	देवड़ा चौहान	१,९५८ ,,
१२	बाँसवाड़ा	गहलोत	१,६०६ ,,
१३	डूंगरपूर	,,	१,४४७ ,,
१४	करौली	यादव	१,२४२ ,,
१५	धौलपुर	जाट	१,१५५ ,,
१६	प्रतापगढ़	गहलोत	८८६ ,,
१७	किशनगढ़	राठौड़	८५८ ,,
१८	झालावाड़	झाला	८१० ,,
१९	शाहपुरा	गहलौत	४०५ ,,
२०	कुशलगढ़ (खुद मु०)	राठौड़	३४० ,,
२१	लावा (,, ,,)	कछवाहा	१९ ,,
२२	अजमेर (मेरवाड़ा)	अङ्गरेज	२,७११ ,,
२३	आबू पहाड़	,,	६ ,,

उक्त २३ रियासतों में से प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं रियासतों का उल्लेख किया जायगा जिनमें कि जैन-वीरोंकी की गई सेवाओं का अभी तक थोड़ा बहुत विवरण उपलब्ध हो सका है।

सम्पूर्ण इतिहास में मेवाड़ (उदयपुर रियासत) का इतिहास सब से अधिक गौरवपूर्ण और प्रतिभाशाली है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक का श्रीगणेश इसी रियासत से आरम्भ किया जाता है।

मेवाड़

"Mewar with all faults, I love thee still"

मेवाड़! तुझमें हजार दोष होने पर भी मैं तुझे स्नेह करता हूं।"

—जेम्सटॉड

पवित्र-तीर्थ

अरे, फिरत कत, बावरे ! भटकत तीरथ भूरि ।
अज्यौं न धारत सीस पै सहज सूर-पग-धूरि ॥
बसत सदा ता भूमि पै, तीरथ लाख करोर ।
लरत मरत जहँ बाकुँरे, बिरझि बीर बर जोर ॥
जगी जोति जहँ जूझ की, खगी खड्ग खुलि झूमि ।
रँगा रुधिर सौं धूरि सो, धन्य धन्य रण-भूमि ॥
तहँ पुष्कर, तहँ सुरसरी, तहँ तीरथ, तप, याग ।
उज्यौ सुबीर-कबन्ध जहँ तहँई पुण्य, प्रयाग ॥
संगर-सोहैं सूरि जहँ, भये भिरत चक-चूरि ।
बड़-भागन तैं मिलति वा रण-आँगन की धूरि ॥

—श्री वियोगीहरि

मेवाड़-परिचय

उदयपुर रेजिडेंसी या मेवाड़ में ४ राज्य हैं। उदयपुर, बाँसवाड़ा डूंगरपुर और परतापगढ़। इसकी चौहद्दी—उत्तर में अजमेर मेरवाड़ा और शाहपुर, उत्तर-पूर्व में जैपुर और बून्दी। पूर्व में कोटा, और टोंक, दक्षिण में मध्यभारत, पश्चिम में अरावली पहाड़। सन् १९०१ में यहाँ जैनी ६ फी सदी थे †।

❋ उदयपुर-राज्य ❋

"राजपूताने के दक्षिणी विभाग में २३°४९′ से २५°२८′ उत्तर अक्षांश और ७०°१′ से ७५°४९′ पूर्व देशान्तर के बीच फैला हुआ है। उसका क्षेत्रफल १२६९१ वर्गमील है। उदयपुर-राज्य के उत्तर में अजमेर मेरवाड़ा और शाहपुरे (फूलिये) का इलाक़ा; पश्चिम में जोधपुर और सिरोही राज्य, नैऋत्य कोण में ईडर, दक्षिण में डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य, पूर्व में सिंधियों का परगना नीमच, टोंक का परगना, नींबाहेड़ा और बून्दी तथा कोटा राज्य हैं; और ईशानकोण में देवली के निकट जयपुर का इलाका आ गया है। इस राज्य के भीतर ग्वालियर का परगना गंगापुर, जिसमें १० गाँव हैं और आगे पूर्व में इन्द्रौर का परगना नंदवास (नंदवाय) आ गय है, जिसमें २९ गाँव हैं।" ‡

---

† राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक पृ० १२८।

‡ राजपूताने का इतिहास पृ० ३०६।

मेवाड़ में पर्वत-श्रेणियाँ अधिक हैं यह हरा भरा सुहावना प्रदेश है। साल भर वहने वाली मेवाड़ में एक भी नदी नहीं है। यहाँ छोटी वड़ी भीलें वहुत हैं। जिनमें कई अत्यन्त दर्शनीय और मन-मोहक हैं। मेवाड़ का जल-वायु सामान्य रीति से आरोग्यप्रद समझा जाता है। भूमि की ऊँचाई के कारण यहाँ सर्दी के दिनों में न तो अधिक सर्दी और उष्णकाल में न अधिक गर्मी होती है। यहाँ की समतल भूमि पैदावारी के लिये बहुत अच्छी है। मेवाड़ के प्रसिद्ध किले चित्तौड़गढ़, कुँभलगढ़ और माण्डलगढ़ हैं, इनके सिवा छोटे-मोटे गढ़ और गढ़ियाँ भी अनेक हैं। वाम्बे-वड़ौदा एन्ड सेण्ट्रल इण्डिया रेल्वे की अजमेर से खंडवा जानेवाली छोटी नाप वाली रेल की सड़क मेवाड़ में होकर निकलती है और उस के रूपाहेली से लगाकर शंभुपुरा तक के स्टेशन इस राज्य में हैं। चित्तौड़गढ़ जंकशन से उदयपुर तक ६९ मील रेल की सड़क उदयपर राज्य की तरफ़ से बनाई गई है, जो उदयपुर-चित्तौड़गढ़ रेल्वे कहलाती है। और दूसरी लाइन अभी हाल में 'मावली' जंकशन से निकली है जो मारवाड़ जंकशन तक जायगी।

उदयपुर राज्य की जन संख्या सन् १९३१ (वि०सं० १९८७) में १५६६९१० थी जिसमें जैनियों की संख्या ६६,००१ थी।

मेवाड़ प्राकृतिक दृश्य में अपने ढंग का निराला है। काश्मीर के वाद सुन्दरता में मेवाड़ का स्थान है। राजपूताने में सब से अधिक चान्दी, ताम्बा, लोहा, ताम्बड़ा (रक्त मणि) अभरक आदि की खानें मेवाड़ में हैं।

चित्तौड़गढ़

मेवाड़ (उदयपुर-राज्य) की वर्तमान राजधानी उदयपुर में है किन्तु इससे पूर्व मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़गढ़ थी। "चित्तौड़गढ़ बॉम्बे बड़ौदा एण्ड सेंट्रल इण्डिया रेल्वे की अजमेर से खंडवा जानेवाली शाखा पर चित्तौड़गढ़ जंकशन से दो मील पूर्व में एक विलग पहाड़ी पर बना हुआ है। यह किला मौर्य-वंश के राजा चित्रांगद ने बनवाया था जिससे इसको चित्रकूट कहते हैं विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी के अन्त में मेवाड़ के गुहिल वंशी राजा बापा ने राजपूताने पर राज्य करने वाले मौर्यवंश के अन्तिम राजा मान से यह क़िला अपने हस्तगत किया। फिर मालवे के परमार राजा मुँज ने इसे गुहिलवंशियों से छीनकर अपने राज्य में मिलाया। वि० सं० की बारहवीं शताब्दी के अंत में गुजरात के सोलंकी † राजा जयसिंह (सिद्धराज) ने परमारों से मालवे को छीना, जिस के साथ ही यह दुर्ग भी सोलंकियों के अधिकार में गया। तदनन्तर जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के भतीजे अजयपाल को परास्त कर मेवाड़ के राजा सामन्तसिंह ने वि०सं० १२३१ (ई० स० ११७४) के आसपास इस किले पर गुहिलवंशियों का आधिपत्य जमाया। उस समय से आज तक यह इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग प्रायः —यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक

---

† इन सोलंकी राजाओं का विस्तृत परिचय लेखक की "गुजरात के जैनवीर" नामक पुस्तक में मिलेगा। जो शीघ्र छपेगी।

मुसलमानों के अधीन भी रहा था—गुहिलवंशियों (सीसोदियों) के ही अधिकार में चला आता है ‡।

"चित्तौड़गढ़ जंकशन से क़िले के ऊपर तक पक्की सड़क बनी हुई है। स्टेशन से रवाना होकर अनुमान सवा मील जाने पर गम्भीरी नदी आती है। जिस पर अलाउद्दीनखिलजी के शाहज़ादे खिज़रखाँ का बनवाया हुआ पाषाण का एक सुदृढ़ पुल है। पुल से थोड़ी दूर जाने पर कोट से घिरा हुआ चित्तौड़ का क़स्बा आता है। जिसको तलहटी कहते हैं †।"

यहाँ की मनुष्य-संख्या सन् १९३१ में ८०४१ थी। दिगम्बर जैनियों का एक शिखरबन्द मन्दिर एक चैत्यालय और श्वेताम्बर जैनों के दो मन्दिर यहाँ बने हुये हैं। क़स्बे में ज़िले की कचहरी है जिसके पास से क़िले की चढ़ाई आरम्भ होती है। यहीं से क़िले पर जाने के लिये पास मिलता है।

"चित्तौड़का दुर्ग समुद्र की सतह से १८५० फुट ऊँचाई वाली सवा तीन मील लम्बी और अनुमान आध मील चौड़ी उत्तर-दक्षिण-स्थित एक पहाड़ी पर बना हुआ है और तलहटी से क़िले की ऊँचाई ५०० फुट है। पहाड़ी के ऊपरी भाग में समान भूमि आ जाने के कारण वहाँ कई एक कुंड, तालाब, मन्दिर, महल आदि बने हुए हैं। और कुछ जलाशय तो दुष्काल में भी नहीं सूखते। पहले इस दुर्ग पर आबादी बहुत थी, परन्तु अब तो

---

‡ राजपूताने का इ० पहली जि० पृ० ३४९-५०।

† राजपूताने का इ० प० जि० पृ० ३५०।
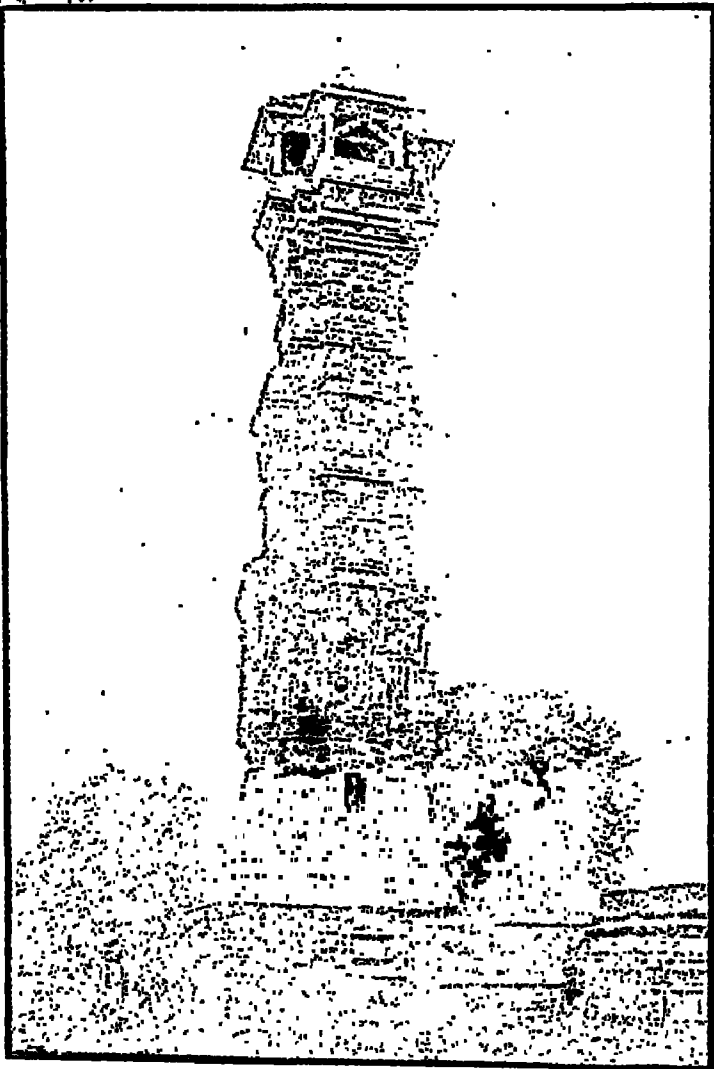
जैन-कीर्तिस्तम्भ, चित्तौड़दुर्ग

पहाड़ी के पश्चिमी सिरे के पास अनुमान २०० घरों की ही वस्ती रह गई है और शेष सब मकानों के गिर जाने से इस समय वहाँ खेती हुआ करती है" ‡। इस क़िले में कितनी ही प्राचीन इमारतें आज भी उस गौरवमयी अतीत काल की पवित्र स्मृति में खड़ी हुई हैं। यहाँ स्थानाभाव के कारण श्री ओझाजी कृत राजपूताने के इतिहास पहिली जिल्द से केवल जैन-स्थानों का परिचय दिया जाता है :—

१—जैनकीर्तिस्तम्भ—"चित्तौड़-दुर्ग पर सात मंजिल वाला जैन-कीर्तिस्तम्भ है। जिसको दिगम्बर सम्प्रदाय के वघेरवाल महाजन ने सा (साह सेठ) नाम के पुत्र जीजा ने वि०सं० की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वनवाया था। यह कीर्तिस्तम्भ आदिनाथ का स्मारक है। इसके चारों पार्श्व पर आदिनाथ की एक-एक विशाल दिगम्बर (जैन) मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इस कीर्तिस्तम्भ के ऊपर की छत्री विजली गिरने से टूट गई और स्तम्भ को वड़ी हानि पहुँचो थी; परन्तु महाराणा फतह-सिंह ने अनुमान ८०००० रुपये लगाकर ठीक वैसी ही छत्री पीछे वनवादी जिससे स्तम्भ की भी मरम्मत हो गई है।

(पृ०३५२)

२—महावीर स्वामी का मन्दिर—जैन कीर्तिस्तम्भ के पास ही महावीर स्वामी का मन्दिर है, जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुम्भा के समय वि० सं० १४९५ (ई० स० १४३८) में ओसवाल

‡ राजपूताने का इ० प० जि० पृ० ३५७।

महाजन गुणराज ने कराया था; इस समय यह मन्दिर टूटी-फूटी दशा में पड़ा हुआ है।" (पृ० ३५२)

३—जैनमन्दिर—चित्तौड़दुर्ग पर 'गोमुख' नाम का प्रसिद्ध तीर्थ है, जहाँ दो दालानों में तीन जगह गोमुखों से शिव-लिंगों पर पानी गिरता है।...इन दालानों के सामने ही 'गोमुख' नामक जल का सुविशाल कुँड है जहाँ लोग स्नान करते हैं। गोमुख के निकट महाराणा रायमल के समय का बना हुआ एक छोटा सा जैनमन्दिर है; जिसकी मूर्ति दक्षिण से यहाँ लाई गई थी; क्योंकि उस मूर्ति के ऊपर प्राचीन कनड़ी लिपि का लेख है और नीचे के भाग में उस मूर्ति की यहाँ प्रतिष्ठा किये जाने के सम्बन्ध में वि० सं० १५४३ का लेख पीछे से नागरी लिपि में खोदा गया है। (पृ० ३५४)

४—सतवीस देवलां—चित्तौड़दुर्ग पर पुराने महलों का 'बड़ीपोल' नामक द्वार आता है। इस द्वार से पूर्व में कई एक जैनमन्दिर टूटी फूटी दशा में खड़े हैं और उनमें से 'सतवीस देवलां' (सत्ताईस मन्दिर) नामक जिनालय में खुदाई का काम बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इसी के पास आज कल महाराणा फत्तहसिंह के नये महल बने हुए हैं। (पृ०३५६)

५—शान्तिनाथ का मन्दिर—चित्तौड़ दुर्ग पर पुराने राजमहलों के निकट उत्तर की तरफ सुन्दर खुदाई के कामवाला एक छोटा सा मन्दिर है, जिसको शृंगारचँवरी कहते हैं। इसके मध्य में एक छोटी सी वेदी पर चार स्तम्भ वाली छत्री बनी हुई है।

लोग कहते हैं कि यहाँ पर राणा कुम्भा को राजकुमारी का विवाह हुआ था, जिसकी यह चँवरी है। वास्तव में इतिहास के अन्धकार में इसकी कल्पना की सृष्टि हुई है, क्योंकि एक स्तम्भ पर खुदे हुए वि० सं० १५०५ (ई० स० १४४८) के शिला लेखों से ज्ञात होता है कि राणा कुम्भा के भंडारी (कोषाध्यक्ष) वेलाक ने जो शाह केल्हा का पुत्र था, शान्तिनाथ का यह जैनमन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के आचार्य जिनसेनसूरि ने की थी। जिस स्थान को लोग चँवरी बतलाते हैं वह वास्तव में उक्त मूर्ति की वेदी है और संभव है कि मूर्ति चौमुख (जिसके चारों ओर एक एक मूर्ति होती है) हो। (पृ०३५६)

यह इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग भारत के ही नहीं वरन् समस्त संसार के क़िलों में शिरमौर है। इसी क़िले के लिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि-"गढ़ तो चित्तौड़गढ़ और सब गढ़ैया हैं"। यह दुर्ग अपनी सुन्दरता अथवा मज़बूती के कारण विख्यात नहीं है। सुन्दरता और मज़बूती में तो यह किला शायद संसार के किलों की श्रेणी में भी न रखा जा सके, और अब तो यह खण्डहर हो गया है। रसिक यात्रियों के मनोरंजन के लिये यहाँ कुछ भी शेष नहीं है। पर जो स्वतन्त्रता के उपासक हैं, उनका यह महान् तीर्थ है, इसका प्रत्येक अणु उनका देवता है, इसकी रज को मस्तक पर लगाने से वह कृतकृत्य होजाते हैं और इसकी गौरव-गाथा सुनते२ उन्मत्त हो नाचने लगते हैं अथवा सर धुन कर रोने लगते हैं।

श्रीयुत ठाकुरप्रसादजी शर्मा ने चित्तौड़ की यात्रा करते हुये भावावेश में क्या खूब लिखा है :—

हिम पर्वत से अधिक उच्च है, गौरवयुत यह पर्वत ठाम।
महा तुच्छ है इसके सन्मुख, स्वर्ण-मेरु कैलाश ललाम ॥१॥
सब से ऊपर वहाँ हमारी, कीर्ति-ध्वजा फहराती है।
पग-पग पर पावन पृथिवी, वर-वीर-कथा बतलाती है ॥२॥
पूर्वज-वीर-अस्थियों का है, यह अभेद्य गढ बना हुआ।
है सर्वत्र प्रबल सिंहों के, उष्ण रक्त से सना हुआ ॥३॥
शुचि सबला रमणी-गण ने, निज जौहर यहीं दिखाया था।
निज शरीर भस्मावशेष से, पावन इसे बनाया था ॥४॥
युद्ध-समय रमणी प्रियतम से, कहती यही वचन गम्भीर।
"धर्म-विजय अथवा शूरों की, मृत्यु प्राप्त कर आना वीर ॥५॥
जो कायर हो, कार्य किये बिन, कहीं भाग तुम आओगे।
तो प्रवेश उस अधम देह से, नाथ! न गृह में पाओगे ॥६॥
इन सब पत्थर के टुकड़ों को, भक्ति सहित तुम करो प्रणाम।
यही रुधिर सुरसरि में बहकर, बने राष्ट्र के सालिगराम॥७॥
तनिक कृपा कर हमें बताओ, हे इतिहास-निपुण देवेश!
चलते समय वीर जयमल ने, तुम्हें दिया था क्या सन्देश॥८॥
हे चित्तौड़! जगत में केवल, तू सर्वस्व हमारा है।
दुखी, निराश्रित भारत का, बस तूही एक सहारा है॥९॥
तेरे लिये सदा हम हैं, संसार छोड़ने को तैय्यार।
तेरे बिना रसातल को, चला जायगा यह संसार ॥१०॥

अहो ! यह वही पूज्यस्थल है, जहाँ खड़े थे लाखों वीर ।
गौरव-रक्षा हेतु हुये थे, पर्वत सम दृढ़ मनुज शरीर ॥ ११ ॥
शत्रु-सैन्य-सागर की लहरें, आईं इसे हटाने को ।
झुका न वह पर चूर हुआ, चिरजीवित द्वीप बनाने को ॥१२॥
इसी धूल में यहाँ नहाकर, होऊँगा मैं महा पवित्र ।
खुदा रहेगा सदा हृदय पर, पावन वीर-भूमि का चित्र ॥१३॥
शीश झुकाऊँगा मैं उसको, सायं प्रातः दोनों काल ।
कठिन काल आने पर उसका, ध्यान करूँगा मैं तत्काल॥ १४॥
होकर यह स्वर्गीय चन्द्र-सम, सुखद किरण फैलाता है ।
नीच कुटिलता पृथिवी पर, प्रबल प्रताप बढ़ाता है ॥ १५ ॥
निज कर्तव्य पूर्ण करने का, यह हम को देता उपदेश ।
स्वार्थ-सिद्धि-हित आत्म-त्याग का; देता ईश्वरीय संदेश ॥१६॥
वीर देवियों की सुख-शैया, चिता हृदय में जलती है ।
सिंह-मूर्ति अति प्रबल काल की, दृष्टि संग ही चलती है ॥१७॥
युद्ध-नाद सुस्पष्ट यहाँ पर, अभी सुनाई देता है ।
मधुर गान का एक शब्द फिर, इन सब को ढक लेता है॥१८॥
हे! दृढ़ साहसयुक्त वीरगण! तुम्हें कोटिशः बार प्रणाम!
कब फिर भारत में होंगे नर, तुमसे नीति-निपुण गुण-धाम॥१९॥
हम से कुटिल नीच पुरुषों को, है सतकोटि बार धिक्कार ।
रक्षा होगी तभी हमारी जब, तुम फिर लोगे अवतार ‡॥२०॥

---

‡ श्री० गोविन्दसिंहजी पंचोली चित्तौड़गढ़ की कृपा से प्राप्त ।

उदयपुर

"मेवाड़ की राजधानी पहिले चित्तौड़गढ़ थी, परन्तु वह गढ़ सुदृढ़ होने पर भी एक ऐसी लम्बी पहाड़ी पर बना हुआ है, जो अन्य पर्वत-श्रेणियों से पृथक् आगई है; अतएव शत्रु उसका घेरा डालकर क़िले वालों के पास बाहर से रसद आदि का पहुँचना सहज ही बन्द कर सकता है। यही कारण था कि यहाँ कई बार बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में क़िले के लोगों को भोजनादि सामग्री खतम हो जाने पर, विवश दुर्ग के द्वार खोल कर शत्रु-सेना से युद्ध करने के लिये बाहर आना पड़ा। इसी असुविधा का अनुभव करके, महाराणा उदयसिंह ने चारों तरफ़ पर्वतों से घिरे हुये सुरक्षित स्थान में उदयपुर नगर बसाकर उसे मेवाड़ की राजधानी बनाया। उदयपुर शहर पीछोला तालाब के पूर्वी किनारे की उत्तर दक्षिण-स्थित पहाड़ी के दोनों पार्श्व पर बसा हुआ है। इसके पूर्व तथा उत्तर में समान भूमि आगई है; जिधर नगर बढ़ता जाता है। शहर पुराने ढंग का बना हुआ है और एक बड़ी सड़क को छोड़कर बहुधा सब रास्ते व गलियाँ तंग हैं। इस की चारों तरफ़ शहर पनाह है, जिसमें स्थान-स्थान पर बुर्जें बनी हुई हैं। नगर के उत्तर तथा पूर्व में, जहाँ शहर पनाह पर्वतमाला से दूर है, एक चौड़ी खाई कोट के पास पास खुदी हुई है। शहर के दक्षिणी भाग में पहाड़ी की ऊँचाई पर पीछोले के किनारे पुराने राजमहल बड़े ही सुन्दर और प्राचीन शैली के बने हुये हैं। पुराने महलों में

मुख्य छोटी चित्रशाली, सूरज चौपाड़, पीतमनिवास, मानिक-महल, मोती महल, चीनी की चित्रशाली, दिलखुशाल, बाड़ीमहल (अमरविलास) मुख्य हैं। पुराने महलों के आगे अंग्रेजी तर्ज का शंभु-निवास नाम का नया महल और उसके निकट महाराणा फतहसिंह का बनवाया हुआ शिवनिवास नामक सुविशाल महल लाखों रुपयों की लागत से तैयार हुआ है। राजमहल शहर के सब से ऊँचे स्थान पर बनाये जाने के कारण और इनके नीचे ही विस्तीर्ण सरोवर होने से उनकी प्राकृतिक शोभा बहुत बढ़ी चढ़ी है" +।

शहर में अनेक देखने योग्य स्थान हैं जिन्हें यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं लिखा जा सकता। यहाँ की मनुष्य-संख्या सन् १९३१ में ४४०३५ के करीब थी। दिगम्बरों के ८ शिखरबन्द मंदिर तथा ५ चैत्यालय हैं और उन सब में ६८५ के करीब धर्मशास्त्र हैं†। श्वेताम्बरों के छोटे बड़े सब ३५ मन्दिर हैं ‡। इन में कितने ही मन्दिर अत्यन्त सुन्दर बने हुए हैं।

उदयपुर राज्य में अनेक प्राचीन स्थान देखने योग्य हैं किन्तु यहाँ स्थानाभाव के कारण मान्य ओझाजी कृत राजपूताने के इतिहास से केवल प्राचीन जैनमन्दिरों का उल्लेख किया जाता है—

+ राजपूताने का इ० पृ० ३२९।

† दि० जैन डिरेक्टरी पृ० ४६९।

‡ जैन तीर्थ गाइड पृ० १५९।

केशरियानाथ (ऋषभदेव)—

"उदयपुर से ३९ मील दक्षिण में खैरवाड़े की सड़क के निकट कोट से घिरे हुये धूलदेव नामक कस्बे में ऋषभदेव का प्रसिद्ध जैनमन्दिर है। यहाँ की मूर्ति पर केशर बहुत चढ़ाई जाती है †। जिससे इनको केसरियाजी या केसरियानाथ भी कहते हैं। मूर्ति काले पत्थर की होने के कारण भील लोग इनको कालाजी कहते हैं। ऋषभदेव विष्णु के २४ अवतारों में से आठवें अवतार होने से हिन्दुओं का भी यह पवित्र तीर्थ माना जाता है। भारतवर्ष के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर जैन एवं मारवाड़, मेवाड़, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, ईडर आदि राज्यों के शैव, वैष्णव आदि यहाँ यात्रार्थ आते हैं। भील लोग कालाजी को अपना इष्टदेव मानते हैं और उन लोगों में इनकी भक्ति यहाँ तक है कि केसरियानाथ पर चढ़े हुये केसर को जल में घोलकर पी लेने पर वे—चाहे जितनी विपत्ति उनको सहन करनी पड़े—झूठ नहीं बोलते।"

"हिन्दुस्तान भर में यही एक ऐसा मन्दिर है, जहाँ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन और वैष्णव, शैव, भील एवं तमाम सच्छूद्र स्नान कर समान रूप से मूर्ति का पूजन करते हैं। प्रथम द्वार से, जिस पर नक्कारखाना बना है, प्रवेश करते ही बाहरी परिक्रमा का

---

† यहाँ पूजन की मुख्य सामग्री केसर ही है और प्रत्येक यात्री अपनी इच्छानुसार केसर चढ़ाता है। कोई कोई जैन तो अपने बच्चों आदि को केसर से तोलकर वह सारी केसर चढ़ा देते हैं। प्रातःकाल के पूजन में जल प्रक्षालन, दुग्ध प्रक्षालन, अतर लेपन आदि होने के पीछे केसर का चढ़ना प्रारम्भ होकर एक बजे तक चढ़ती ही रहती है।

चौक आता है, वहाँ दूसरा द्वार है, जिस के बाहर दोनों ओर काले पत्थर का एक-एक हाथी खड़ा हुआ है। उत्तर की तरफ के हाथी के पास एक हवनकुंड बना है, जहाँ नवरात्रि के दिनों में दुर्गा का हवन होता है। उक्त द्वार के दोनों ओर के ताकों में से एक में ब्रह्मा की और दूसरे में शिव की मूर्ति है, जो पीछे से बिठलाई गई हो, ऐसा जान पड़ता है। इस द्वार से दस सीढ़िया चढ़ने पर मन्दिर में पहुँचते हैं और उन सीढ़ियों के ऊपर के मंडप में मध्यम कद के हाथी पर बैठी हुई मरुदेवी (ऋषभनाथ की माता) की मूर्ति है। सीढ़ियों से आगे बांई ओर 'श्रीमद्भागवत' का चबूतरा बना है, जहाँ चातुर्मास में भागवत की कथा बँचती है। यहाँ से तीन सीढ़ियाँ चढ़ने पर एक मंडप आता है, जिसको ९ स्तम्भ होने के कारण 'नौचौकी' कहते हैं। यहाँ से तीसरे द्वार में प्रवेश किया जाता है। उक्त द्वार के बाहर उत्तर के ताक में शिव की और दक्षिण ताक में सरस्वती की मूर्ति स्थापित है। इन दोनों के आसनों पर वि० सं० १६७६ के लेख खुदे हैं। तीसरे द्वार में प्रवेश करने पर खेला मंडप (अन्तराल) में पहुँचते हैं, वहाँ से आगे निज मन्दिर (गर्भगृह) ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित है। गर्भगृह के ऊपर ध्वजादंड सहित विशाल शिखर है और खेला मंडप, नौचौकी तथा मरुदेवी वाले मंडप पर गुंबज है। मन्दिरके उत्तरी, पश्चिमी और दक्षिणी पार्श्व में देवकुलिकाओं की पंक्तियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक के मध्य में मंडप सहित एक-एक मंदिर बना है। देवकुलिकाओं और मन्दिरों के बीच भीतरी परिक्रमा है।"

"इस मन्दिर के विषय में यह प्रसिद्धि है कि पहिले यहाँ ईंटों का बना हुआ एक जिनालय था, जिसके टूट जाने पर उस के जीर्णोद्धार रूप पाषाण का यह नया मन्दिर बना। यहाँ के शिला-लेखों से पाया जाता है कि इस मन्दिर के भिन्न-भिन्न विभाग अलग अलग समय के बने हुए हैं। खेल मंडप की दीवारों में लगे हुये दो शिलालेखों में से एक वि०सं० १४३१ वैशाख सुदी ३ बुधवार का है, जिसका आशय यह है कि दिगम्बर सम्प्रदाय के काष्टासंघ के भट्टारक श्री धर्मकीर्ति के उपदेश से साह (सेठ) बीजा के बेटे हरदानने इस जिनालय का जीर्णोद्धार कराया। उसी मंडप में लगे हुये वि० सं० १५७२ वैशाख सुदी ५ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि काष्टासंघ के अनुयाई काछलूगोत्र के कड़ियापोइया और उसकी भरमी के पुत्र हाँसा ने धूलीव (धूलेव) गाँव में श्री ऋषभनाथ को प्रणाम् कर भट्टारक श्री जसकीर्ति (यशकीर्ति) के समय मंडप तथा नौचौकी बनवाई। इन दोनों शिलालेखों से ज्ञात होता है कि गर्भगृह (निजमन्दिर) तथा उसके आगे का खेला मंडप वि० सं० १४३१ में और नौचौकी तथा एक ओर मंडप वि० सं० १५७२ (ई०स० १५१५) में बने। देव कुलिकाएँ पीछे से बनी हैं क्योंकि दक्षिण की देव कुलिकाओं की पंक्ति के मध्य में मंडप सहित जो मन्दिर† है, उसके द्वार के समीप दीवार

---

† तीनों ओर की देवकुलिकाओं की पंक्तियों के मध्य में बने हुये मंडप वाले तीनों मन्दिरों को वहाँ के पुजारी लोग नेमिनाथ के मन्दिर कहते हैं, परन्तु इस मन्दिर के शिलालेख तथा इसके भीतर की मूर्ति के आसन पर के लेख से निश्चित है कि यह तो ऋषभदेव का ही मन्दिर है। बाकी के दो मन्दिर किन तीर्थंकरों के हैं, यह उनमें कोई लेख न होने से ज्ञात नहीं हुआ।

में लगे हुये शिलालेख से स्पष्ट है कि काष्टासंघ के नदीतट गच्छ और विद्यागण के भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति के समय में बघेरवाल जाति के गोवाल गोत्री संघवी (संघपति) आल्हा के पुत्र भोज के कुटुम्बियों ने यह मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठा महोत्सव किया ‡। इस मन्दिर से आगे की देवकुलिका की दीवार में भी एक शिलालेख लगा हुआ है, जिस का आशय यह है कि वि० सं० १७५४ पौष वदि ५ को काष्ठासंघ के नदीतटगच्छ और विद्यागण के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से हूँवड़ जाति की वृद्ध शाखावाले विश्वेश्वर गोत्री साह आल्हा के वंशज सेठ भूपत के वंश वालों ने यह लघु प्रासाद बनवाया। इन चारों शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव के मन्दिर तथा कुलिकाओं का अधिकाँश काष्टासंघ के भट्टारकों के उपदेश से उनके दिगम्बरी अनुयाइयों ने बनवाया था। शेष सब देवकुलिकाएँ किसने बनवाईं, इस विषय का कोई लेख नहीं मिला।"

"ऋषभदेव की वर्तमान् मूर्ति बहुत प्राचीन होने से उसमें कई जगह खड्डे पड़ गये थे, जिससे उनमें कुछ पदार्थ भर कर उनको ऐसा बना दिया है कि वे मालूम नहीं होते। यह प्रतिमा डूंगरपुर राज्य की प्राचीन राजधानी वड़ौदे (वटपद्रक) के जैन-मन्दिर से लाकर यहाँ पधराई गई है। वड़ौदे का पुराना मन्दिर गिर गया है और उसके पत्थर वहाँ वटवृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर चुने हुये हैं। ऋषभदेव की प्रतिमा बड़ी भव्य और तेजस्वी है, इसके साथ

‡ यह शिलालेख प्राचीन जैन इतिहास के लिये बड़े कामका है, क्योंकि इसमें नदी तट गच्छ की उत्पत्ति तथा उक्त गच्छ के आचार्योंकी क्रम परम्परा दी हुई है।

के विशाल परिकर में इन्द्रादि देवता बने हैं और दोनों पार्श्व पर दो नग्न काउसगिये (कायोत्सर्ग स्थिति वाले पुरुष) खड़े हुये हैं। मूर्ति के चरणों के नीचे छोटी छोटी ९ मूर्तियाँ हैं, जिनको लोग 'नवग्रह' या 'नवनाथ' बतलाते हैं। नवग्रहों के नीचे १६ स्वप्ने खुदे हुये हैं; जिनके नीचे के भाग में हाथी, सिंह, देवी आदि की मूर्तियाँ और उनके नीचे दो बैलों के बीच में देवी की एक मूर्ति बनी हुई है। निजमन्दिर की बाहरी पार्श्व के उत्तर और दक्षिण के ताकों तथा देव कुलिकाओं के पृष्ठ भागों में भी नग्न मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

मूलसंघ के बलात्कार गणवाले कमलेश्वर गोत्री गांधी विजयचंद्र ने वि० सं० १८८३ (ई० स० १८०६) में इस मन्दिर के चौतरफ एक पक्का कोट बनवाया। वि०सं०१८८९ (ई०स०१८३२) में जैसलमेर (उस समय उदयपुर के) निवासी ओसवाल जाति की वृद्ध शाखावाले बाफणा गोत्री सेठ गुमानचन्द बहादुरमल के कुटुम्बियों ने प्रथम द्वार पर का नक्कारखाना बनवाकर वर्तमान ध्वजादंड चढ़ाया।

इस मन्दिर के खेला मंडप में तीर्थंकरों की २२ और देवकुलिकाओं में ५४ मूर्तियाँ विराजमान हैं। देवकुलिकाओं में वि० सं० १७५६ की बनी हुई विजयसागर सूरि की मूर्ति भी है और पश्चिम की देवकुलिकाओंमें से एक में अनुमान ६ फुट ऊँचा ठोस पत्थर का एक मन्दिर सा बना हुआ है, जिस पर तीर्थंकरों की बहुतसी छोटी छोटी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इसको लोग गिरनार

जी का विम्ब कहते हैं। उपर्युक्त ७६ मूर्तियों में से १४ पर लेख नहीं है। लेखवाली मूर्तियों में से ३८ दिगम्बर सम्प्रदाय की और ११ श्वेताम्बरों की हैं। शेष पर लेख अस्पष्ट होने या चूना लग जाने के कारण उनका ठीक २ निश्चय नहीं हो सका। लेखवाली मूर्तियाँ वि० सं० १६११ से १८६३ तक की हैं और उन पर खुदे हुये लेख जैनों के इतिहास के लिये बड़े उपयोगी हैं।

नौचौकी-मंडप के दक्षिणी किनारे पर पाषाण का एक छोटासा स्तम्भ खड़ा है, जिसके चारों ओर तथा ऊपर नीचे छोटे छोटे १० ताक खुदे हैं। मुसलमान लोग इस स्तम्भ को मसजिद का चिन्ह मानते हैं और उसके नीचे की परिक्रमा में खड़े रहकर वे लोवान जलाते, शीरनी (मिठाई) चढ़ाते और धोक देते हैं †।

उदयपुर-राज्य के अधिकार में जो विष्णु-मन्दिर हैं, उनके समान यहाँ भी विष्णु के जन्माष्टमी, जलझूलनी, आदि त्यौहार मन्दिर की तरफ से मनाये जाते हैं। चौमासे में इस मन्दिर में श्रीमद्भागवत की कथा होती है, जिस की भेंट के निमित्त राज्य की तरफ से ताम्रपत्र कर दिया गया है और ऋषभनाथजी के भोग के लिये एक गाँव भी भेट हुआ था। मन्दिर के प्रथम द्वार के पास खड़े हुये महाराणा संग्रामसिंह (दूसरे) के शिलालेख में वेगार की मनाई करने, ऋषभदेवजी की रसोई का काम नाथजी

---

† मुसलमान लोग मन्दिरों को तोड़ देते थे, जिससे उनके समय के बने हुये बड़े मन्दिरों आदि में उनका कोई पवित्र चिन्ह इस अभिप्राय से बना दिया जाता था कि उसको देखकर वे उनको न तोड़ें।

के सुपुर्द करने तथा उस सम्बन्ध का ताम्रपत्र अखेहजी नाथजी (भंडारी) के पास होने का उल्लेख है। पहिले अन्य विष्णुमंदिरों के समान यहाँ भी भोग लगता था और भोग तैयार होने के स्थान को 'रसोड़ा' कहते थे। अब तो इस मन्दिर में पहले की तरह भोग नहीं लगता और भोग के स्थान में भंडार की तरफ से होने वाले पूजा प्रक्षाल में फल और सूखे मेवे आदि के साथ कुछ मिठाई रखदी जाती है।

महाराणा साहब इस मन्दिर में द्वितीय द्वार से नहीं, किन्तु बाहरी परिक्रमा के पिछले भाग में बने हुये एक छोटे द्वार से प्रवेश करते हैं; क्योंकि दूसरे द्वार के ऊपर की छत में पाँच शरीर और एक सिर वाली एक मूर्ति खुदी हुई है, जिसको लोग 'छत्र-भंग' कहते हैं। इसी मूर्ति के कारण महाराणा साहब इसके नीचे होकर दूसरे द्वार से मन्दिर में प्रवेश नहीं करते।

मन्दिर का सारा काम पहले भंडारियों के अधिकार में था और इसकी सारी आमद उनकी इच्छानुसार खर्च की जाती थी; परन्तु पीछे से राज्य ने मन्दिर की आय में से कुछ हिस्सा उनके लिये नियत कर बाक़ी के रुपयों की व्यवस्था करने के लिये एक जैन कमेटी ‡ बनादी है और देवस्थान के हाकिम का एक नायब मन्दिर के प्रबन्ध के लिये वहाँ रहता है।

मन्दिर में पूजन करने वाले यात्रियों के लिये नहाने-धोने का अच्छा प्रबन्ध है। पूजन करते समय स्त्री-पुरुषों के पहनने के

---

‡ इसके सदस्य श्वेताम्बरी और दिगम्बरी दोनों होते हैं।—गोयलीय।

लिये शुद्ध वस्त्र भी वहाँ हर वक्त तैयार रहते हैं और जिन को आवश्यकता हो उनको वे मिल सकते हैं। मन्दिर एवं धनाढ्यों की तरफ़ से कई एक धर्मशालायें भी बन गई हैं। जिससे यात्रियों को धूलेव में ठहरने का बड़ा सुभीता रहता है। †

उदयपुर से ऋषभदेव तक का सारा मार्ग बहुधा भीलों ही की वस्ती वाले पहाड़ी प्रदेश में होकर निकलता है, परन्तु वहाँ पक्की सड़क बनी हुई है और महाराणा साहब ने यात्रियों के आराम के लिये ऋषभदेव के मार्ग पर काया, बारापाल तथा टिड्डीगाँवों में पक्की धर्मशालाएँ बनवा दी हैं। परसाद में भी पुरानी कच्ची धर्मशाला बनी हुई है। मार्ग निर्जन बन तथा पहाड़ियों के बीच होकर निकलता है तो भी रास्ते में स्थान स्थान पर भीलों की चौकियाँ बिठला देने से यात्रियों के लुट जाने का भय बिल्कुल नहीं रहा। प्रत्येक चौकी पर राज्य की तरफ से नियत किये हुये कुछ पैसे देने पड़ते हैं। ऋषभदेव जाने के लिये उदयपुर में बैल-गाड़ियाँ तथा ताँगे मिलते हैं और अब तो मोटरों का भी प्रबन्ध हो गया है। (पृ० ३४४-४९)

ऋषभदेव का मन्दिर—

माण्डलगढ़ क़िले में सागर और सागरी नाम के दो जलाशय हैं, जिनका जल दुष्काल में सूख जाया करता था, इस लिये वहाँ के अध्यक्ष (हाकिम) महता अगरचन्द्र ने सागर में दो कुए-

---

† सरकारी हस्पताल और औषधालय हैं जहाँ दवा मुफ्त दीजाती है। एक वाचनालय भी है।—गोयलीय।

खुदवा दिये, जिनमें जल कभी नहीं टूटता... यहाँ एक ऋषभदेव का जैनमन्दिर है। (पृ० ३६१)

बीजोल्यां में जैनमंदिर—

बीज़ोल्यों के क़स्बे से अग्निकोण में अनुमान एक मील के अंतर पर एक जैनमन्दिर है, जिसके चारों कोनों पर एक-एक छोटा मन्दिर और बना हुआ है। इन मन्दिरों को पंचायतन कहते हैं और ये पाँचों मन्दिर कोट से घिरे हुये हैं। इनमें से मध्य का अर्थात् मुख्य मन्दिर पार्श्वनाथ का है। मन्दिर के बाहर दो चतुरस्र-स्तम्भ बने हुये हैं, जो भट्टारकों की नसियाँ हैं। इन देवालयों से थोड़ी दूर पर जीर्ण-शीर्ण दशा में 'रेवतीकुण्ड' है। पहले दिगम्बर सम्प्रदाय के पोरवाड़ महाजन लोलाक ने यहाँ पार्श्वनाथ का तथा सात अन्य मन्दिर बनवाये थे, जिनके टूट जाने पर ये पाँच मन्दिर बनाये गये हैं। यहाँ पर पुरातत्त्ववेताओं का ध्यान विशेष आकर्षित करने वाली दो वस्तुएँ हैं, जिनमें से एक तो लोलाक का खुदवाया हुआ अपने निर्माण कराये हुये देवालयों के सम्बन्ध का शिलालेख और दूसरा 'उन्नतिशिखरपुराण' नामक दिगम्बर-जैनग्रन्थ है। बीजोल्यां के निकिट भिन्न २ आकृति के चपटे कुदरती चट्टान अनेक जगह निकले हुए हैं। ऐसे ही कई चट्टान इन मन्दिरों के पास भी हैं, जिनमें से दो पर ये दोनों खुदवाये गये हैं। विक्रम संवत् १२२६ फाल्गुण वदि ३ का चौहान राजा सोमेश्वर के समय का लोलाक का खुदवाया हुआ शिलालेख इतिहास के लिये बड़े महत्त्व का है, क्योंकि उसमें सामन्त

से लगाकर सोमेश्वर तक सांभर और अजमेर के चौहान राजाओं की वंशावली तथा उनमें से किसी किसी का कुछ विवरण भी दिया है। इस लेख में दी हुई चौहानों की वंशावली बहुत शुद्ध है क्योंकि इसमें खुदे हुए नाम शेखावाटी के हर्षनाथ के मन्दिर में लगी हुई वि० सं० १०३० की चौहान राजा सिंहराज के पुत्र विग्रहराज के समय की प्रशस्ति, किनसरिया (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए सांभर के चौहान राजा दुर्लभराज के समय के वि० सं० १०५६ के शिलालेख तथा 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य में मिलने वाले नामों से ठीक मिल जाते हैं। उक्त लेख में लोलाक के पूर्व पुरुषों का विस्तृत वर्णन और स्थान-स्थान पर बनवाये हुए उनके मन्दिरादि का उल्लेख है। अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) ने मोराकुरीगाँव और सोमेश्वर ने रेवणागाँव पार्श्वनाथ के उक्त मन्दिर के लिये भेट किया था। "उन्नतिशिखरपुराण" भी लोलाक ने उसी संवत् में यहाँ खुदवाया था और इस समय इस पुराण की कोई लिखित प्रति कहीं विद्यमान नहीं है। बीजोल्यां के राव कृष्णसिंह ने इन दोनों चट्टानों पर पक्के मकान बनवा कर उनकी रक्षा का प्रशंसनीय कार्य किया है। (पृ० ३६२–६४)

देलवाड़ा के जैनमन्दिर

एकलिंगजी चार मील उत्तर में देलवाड़ा (देवकुल पाटक) गाँव वहाँ के झाला सरदार की जागीर का मुख्य स्थान है। यहाँ पहले बहुत से श्वेताम्बर-जैनमन्दिर थे, उनमें से तीन अब तक विद्यमान हैं, जिनको वसही (वसति) कहते हैं। इनमें से एक

आदिनाथ का और दूसरा पार्श्वनाथ का है। इन मन्दिरों तथा इनके तहखानों में रक्खी हुई भिन्न२ तीर्थंकरों, आचार्यों एवं उपाध्यायों की मूर्तियों के आसनों तथा पाषाण के भिन्न २ पट्टों आदि पर खुदे हुये लेख वि० सं० १४६४ से १६८९ तक के हैं। पहले यहाँ अच्छे धनाढ्य जैनों की आबादी थी और प्रसिद्ध सोमसुन्दरसूरि का जिनको 'वाचक' पदवी वि० सं० १४५० (ई० स० १३९३) में मिली थी, कई बार यहाँ आगमन हुआ, उनका यहाँ बहुत कुछ सन्मान हुआ और उनके यहाँ आने के प्रसंग पर उत्सव भी मनाये गये थे, ऐसा 'सोमसौभाग्य' काव्य से पाया जाता है। कुछ वर्ष पूर्व यहाँ के एक मन्दिर का जीर्णोद्धार करते समय मन्दिर के कोट के पीछे के खेत में से १२२ जिन प्रतिमाएँ तथा दो एक पाषाण पट्ट निकले थे। ये प्रतिमाएँ मुसलमानों के चढ़ाइयों के समय मन्दिरों से उठाकर यहाँ गाढ दी गई हों, ऐसा अनुमान होता है। महाराणा लाखा के समय से पूर्व का यहाँ कोई शिलालेख नहीं मिलता। महाराणा मोकल और कुम्भा के समय यह स्थान अधिक सम्पन्न रहा हो, ऐसा उनके समय की बनी हुई कई मूर्तियों के लेखों से अनुमान होता है। देलवाड़े के बाहर एक कलाल के मकान के सामने के खेत में कई विशाल मूर्तियाँ गढ़ी हुई हैं, ऐसी खबर मिलने पर मैंने वहाँ खुदवाया तो चार बड़ी २ मूर्तियाँ निकलीं, जो खंडित थी और उनमें से कोई भी महाराणा कुम्भा के समय से पूर्व की न थीं। (पृ० ३६६-६७)।

केरड़ा का जैनमन्दिर—

उदयपुर-चित्तौड़गढ़-रेल्वे के करेड़ा स्टेशन के पास ही श्वेत पाषाण का बना हुआ पार्श्वनाथ का विशाल मन्दिर है। मन्दिर के मण्डप की दोनों तरफ छोटे २ मण्डप वाले दो और मन्दिर बने हुए हैं। उनमें से एक मंडप में अरबी का एक लेख है, जो पीछे से मरम्मत कराने के समय वहाँ लगा दिया गया हो, ऐसा अनुमान होता है। मंडप में जंजीर से लटकती हुई घंटियों की आकृतियाँ बनी हैं, जिस पर से लोगों ने यह प्रसिद्धि की है कि इस मन्दिर के बनाने में एक बनजारे ने सहायता दी थी, जिस से उसके बैलों के गले में बान्धी जाने वाली जंजीर सहित घंटियों की आकृतियाँ यहाँ अंकित की गई हैं, परन्तु यह भी कल्पना मात्र है, क्योंकि जैन, शैव, वैष्णवों के अनेक प्राचीन मन्दिरों के थंभों पर ऐसी आकृतियाँ बनी हुई मिलती हैं। जो एक प्रकार की सुन्दरता का चिन्ह मात्र था। मंडप के ऊपरी भाग में एक ओर मसजिद की आकृति बनी हुई है जिसके विषय में लोग यह प्रसिद्ध करते हैं कि जब बादशाह अकबर यहाँ आया था, तब उसने इस मन्दिर में यह मसजिद की आकृति इस अभिप्राय से बनवादी थी कि भविष्य में मुसलमान इसे न तोड़ें, परन्तु वास्तव में मन्दिर के निर्माण कराने वालों ने मुसलमानों का यह पवित्र चिन्ह इसी विचार से बनवाया है कि इसको देखकर वे मन्दिर को न तोड़ें, जैसा कि मुसलमानों के समय के बने हुए अन्य मन्दिरादि के सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया गया है। मन्दिर में श्याम वर्ण पाषाण की बनी

हुई पार्श्वनाथ की एक मूर्ति है, जिस पर खुदे हुए लेख से पाया जाता है कि वह वि० सं० १६५६ में बनी थी। लोग यह भी कहते हैं कि यहाँ मूर्ति के ठीक सामने के एक भाग में एक छिद्र था, जिसमें होकर पौष शुक्ला १० को सूर्य की किरणें इस प्रतिमा पर पड़ती थीं, उस समय यहाँ एक बड़ा भारी मेला भरता था, परन्तु महाराणा सरूपसिंह के समय से यह मेला बन्द हो गया। पीछे से जीर्णोद्धार कराते समय उधर की दीवार ऊँची बनाई गई, जिस से अब सूर्य की किरणें मूर्ति पर नहीं गिरतीं। थोड़े पूर्व इस मंदिर की फिर मरम्मत होकर सारे मन्दिर पर चूना पोत दिया गया जिससे इसके श्वेत पाषाण की शोभा नष्ट हो गई है। कई देशी एवं विदेशी श्वेताम्बर जैन यहाँ यात्रार्थ आते हैं और एक धर्मशाला भी यहाँ बन गई है।" (पृ० ३६७–६८)
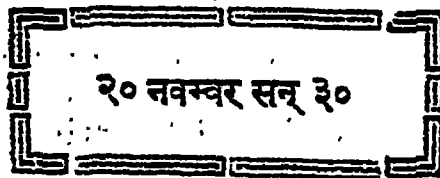
मेवाड़-गौरव

कुछ बात है जो हस्ती, मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन, दौरे जहाँ हमारा॥

—"इकबाल"

विदेशीय—गुलाम, खिलजी, तुग़लक, सैयद, पठान, और मुग़ल-वंश के बादशाहों ने अपने अपने समय में भारत पर आक्रमण करके साम्राज्य स्थापित किये। वह आन्धी की तरह समस्त भारत में फैल गये, अच्छे अच्छे सत्ताधीश उखाड़ कर फैंक दिये गये किन्तु मेवाड़ चट्टान के समान अचल बना रहा, उसने अनेक आपत्ति के प्रलयकारी झोंके सहन किये, तथापि वह अपनी मान-मर्यादा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। समस्त भारत में आतङ्क फैलाने वाले बादशाहों के साम्राज्य तो क्या, आज उनके वंशजों के पास गज़ भर ज़मीन भी नहीं है, पर मेवाड़ अपनी उसी मर्यादा पर आज भी विद्यमान है, जो आज से १३०० वर्ष

पूर्व था †। उसका एक एक अणु इस प्राचीन पद्य की साक्षी दे रहा है कि—

'जो दृढ़ राखै धर्म को, तिहिं राखे करतार'

राजपूताने के आधुनिक प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता श्री० ओझाजी लिखते हैं:—

"इस छोटे से राज्य ने जितने वर्षों तक उस समय के सब से अधिक सम्पन्न साम्राज्य का वीरता पूर्वक मुक़ाबिला किया, वैसे उदाहरण सम्पूर्ण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे।

केवल राजपूताने की रियासतों के ही नहीं, परन्तु संसार के अन्य राज्यों के राजवंशों से भी उदयपुर का राजवंश अधिक प्राचीन है। उदयपुर का राजवंश वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास से लगाकर आज तक समय के अनेक हेर फेर सहते हुये भी उसी प्रदेश पर राज्य करता चला आ रहा है। १३५० से भी अधिक वर्ष तक एक ही प्रदेश पर राज्य करने वाला संसार

---

† उक़ाबी शान से झपटे थे, जो बे बालों-पर निकले।
सितारे शाम के खूने शफ़क़ में डूब कर निकले॥
हुये मदफ़ून दरिया जेर, दरिया तैरने वाले।
तमांचे मौज के खाते थे, जो बनकर गुहर निकले॥
गुबारे रहगुज़र हैं, कीमिया पर नाज़ था जिनको।
जबीनें ख़ाक पर रखते थे, जो अक्सीर गर निकले॥
हमारा नर्मरो क़ासिद पयामे ज़िन्दगी लाया।
ख़बर देती थीं जिनको बिजलियाँ वह बेख़बर निकले॥

—"इक़बाल"

में शायद ही कोई दूसरा राजवंश होगा। प्रसिद्ध ऐतिहासिक फ़रिश्ता ने इस वंश की प्राचीनता के विषय में लिखा है :—
"राजा विक्रमादित्य (उज्जैन वाले) के बाद राजपूतों ने उन्नति की। मुसलमानों के भारतवर्ष में आगमन से पूर्व यहाँ पर बहुत से स्वतंत्र राजा थे, परन्तु सुलतान महमूद गज़नवी तथा उसके वंशजों ने बहुतों को अपने आधीन किया। तदनन्तर शहाबुद्दीन गौरी ने अजमेर और दिल्ली के राजाओं को जीता। बाक़ी रहे सहे को तैमूर के वंशजों ने अपने आधीन किया। यहाँ तक कि विक्रमादित्य के समय से जहाँगीर तक कोई पुराना राजवंश न रहा; परन्तु राणा ही ऐसे राजा हैं, जो मुसलमान धर्म की उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान थे और आज तक राज्य करते हैं।' केवल प्राचीनता में ही नहीं, अन्य बहुत सी बातों के कारण मेवाड़ (उदयपुर) का इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है। मेवाड़ का इतिहास अधिकांश में स्वतंत्रता का इतिहास है। जब तत्कालीन सभी हिन्दू राजा मुग़ल-साम्राज्य की शासन-सत्ता के सामने अपनी स्वतंत्रता स्थिर न रख सके और उन्होंने अपने सिर झुका लिये, तब भी नाना प्रकार के कष्ट और अनेक आपत्तियाँ सहते हुये भी मेवाड़ ने ही सांसारिक सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्य्य का त्याग करके भी अपनी स्वतंत्रता और कुल-गौरव की रक्षा की। यही कारण है कि आज भी मेवाड़ (उदयपुर) के महाराणा 'हिन्दुआ सूरज' कहलाते हैं।" ‡

‡ उदयपुर-राज्य का इतिहास भू० पृ० २।

अपनी आन और मान पर स्थिर रहने वाले जिस मेवाड़ ने लगातार ८०० वर्ष तक विदेशीय बादशाहों से युद्ध करके लोहा लिया और समस्त संसार में अपना आसन ऊँचा किया है। उसी मेवाड़ के मंत्री, कोषाध्यक्ष दण्ड-नायक आदि जैसे जिम्मेदारी के पदों पर अनेक जैनधर्मावलम्बी प्रतिष्ठित होते रहे हैं। जब कि उस युद्ध-काल के समय में अच्छे २ कुलीन राजपूत नरेश, बादशाहों की ओर मिल रहे थे; विश्वासघात और षड्यन्त्रों का बाज़ार गर्म था। भाई को भाई निगल जाने की ताक में लगा हुआ था, सगे से सगे पर भी विश्वास करने के लिये दिल नहीं ठुकता था। तब ऐसी नाज़ुक परिस्थिति में ऐसे प्रतिष्ठित और जोखिमदारी के पदों पर पुश्त दर पुश्त आसीन होते रहना क्या कुछ कम गौरव और ईमानदारी का प्रमाण है?

राजपूताने में जहाँ आठसौ वर्ष तक प्रलयकारी युद्ध होता रहा, पल-पल में मान-मर्यादा के चले जाने का भय बना रहता था ज़रा से प्रलोभन में आजाने या दाव चूक जाने से सर्वस्व नष्ट हो जाने की सम्भावना बनी रहती थी, तब वहाँ इन नर-रत्नों ने कैसे२ आदर्श, वीरता, त्याग आदि के उदाहरण दिखाये, वह आज संसार-सागर में विलीन हैं। इसका कारण यही है कि आज से कुछ दिन पूर्व हमारे यहाँ केवल राजाओं और बादशाहों के जीवन-चरित्र लिखने की परिपाटी थी। सर्व साधारण में कोई कितना ही वीर, सदाचारी प्रतिष्ठित और महान् क्यों न होता; पर, उसके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के लिखने की कोई आवश्य-

कता महसूस ही नहीं करता था। यही कारण है कि आज तक भारत के अनेक नर-रत्नों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक मतभेद चला आता है—जैसा चाहिये वैसा उनका परिचय ही नहीं मिलता। यही हाल राजपूताने के जैन-वीरों के सम्बन्ध में है। ये विचारे प्रधान, मंत्री, कोषाध्यक्ष, दण्डनायक आदि सब कुछ रहे, अनेक महान् कार्य किये, फिर भी इनके सम्बन्ध में कुछ लिखा नहीं मिलता। अस्तु

प्रसंगवश जहाँ कहीं थोड़ा बहुत उल्लेख मिलता है, उस से ही पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर पाठक जान सकेंगे कि उन्होंने क्या कुछ कार्य किये।

१ अक्टूबर सन् ३२
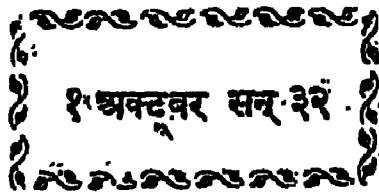
मेवाड़ के वीर

राणी जयतल्लदेवी

मेवाड़ का राज्यवंश शैव है इस शिशोदयावंश में शिव की उपासना होती रही है किन्तु कुछ उल्लेख ऐसे भी मिले हैं जिन से प्रकट होता है कि इस राज्यवंश में जैनधर्म के प्रति भी आदर रहा है। यहाँ तक कि कुछ राणा और राणियाँ तो जैनधर्म के उपासक प्रकट रूप में भी रहे हैं। एक वार रा० रा० वासुदेव गोविन्द आपटे बी.ए. ने अपने व्याख्यान में कहा था—"कर्नल टॉड साहब के राजस्थानीय इतिहास में उदयपुर के घराने के विषय में ऐसा लिखा गया है कि कोई भी जैनयति उक्त संस्थान में जब शुभागमन करता है, तो रानी साहिबा उसे आदरपूर्वक लाकर योग्य सत्कार प्रबन्ध करती हैं, इस विनय प्रबन्ध की प्रथा वहाँ अब तक जारी है †।" उक्त विद्वान् का कथन सर्वथा सत्य है।

---

† जैनधर्म का महत्व प्र० भा० पृ० ३१।

इस गये गुजरे जमाने में भी जब कि जैनियों का कोई विशेष प्रभाव नहीं है, महाराणा फतहसिंह (प्रताप के सुयोग्य वंशधर जिनका दो वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया है) ने श्रीकेशरिया के मंदिर में क़रीब ढाई लाख की भेट दी थी, उसी समय का श्री ऋषभनाथ को नमस्कार करते हुये युवराज भूपालसिंह (वर्तमान महाराणा) सहित चित्र भी मिलता है प्रसिद्ध वक्ता मुनि चौथमल के उपदेश से अपने यहाँ कुछ पशुवध पर प्रतिबन्ध भी लगाया था।

लिखने का तात्पर्य्य केवल इतना है कि शैवधर्मी की इस वंश में मान्यता होते हुये भी जैन-धर्म को भी इस राज्यघराने में काफ़ी आदर मिला है। यही कारण है कि उक्त राज्य में प्रायः जैनधर्मी ही मुख्यता से मंत्री और कोषाध्यक्ष रहे हैं, जैन यतियों ने प्रशस्तियाँ लिखी हैं और कितने ही इस घराने की ओर से जैन मन्दिर निर्माण हुये हैं।

जो प्रकटरूप से जैनधर्मी हुये हैं यहाँ उन्हीं का उल्लेख किया जायगा। राणी जयतल्लदेवी महाराणा तेजसिंह (वि०सं० १३२२ ई० सन् १२६५) की पटरानी और वीरकेसरी समरसिंह की माता थी। इसकी जैनधर्म पर पूर्ण श्रद्धा थी। इसने अनेक जैन-मन्दिर बनवाये। श्री० ओझाजी लिखते हैं:— "तेजसिंह की राणी जयतल्लदेवी ने जो समरसिंह की माता थी, चित्तौड़ पर श्याम पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था।"‡ "आँचलगच्छ की पट्टावलि से पाया जाता है कि उक्त गच्छ के आचार्य अमितसिंह सूरी के उपदेश से

‡ राजपूताने का इ० पृ० ४७२।

रावल समरसिंह ने अपने राज्य में जीव-हिंसा रोक दी थी। समरसिंह की माता जयतल्लदेवी की जैनधर्म पर श्रद्धा थी, अतः उसके आग्रह से या उक्त सूरी के उपदेश से उसने ऐसा किया हो, यह सम्भव है।" ‡

उक्त दो अवतरणों से प्रकट है कि राणी जयतल्लदेवी जैनधर्मावलम्बनी थी, उसने समरसिंह जैसे शूरवीर को प्रसव किया था, जो ऐतिहासिक क्षेत्र में अपनी वीरता के लिये काफ़ी प्रसिद्ध हैं।

[२० अक्तूबर सन् ३२]

कर्माशाह

मेवाड़-नरेश राणा संग्रामसिंह के पराक्रमकारी पुत्र रत्नसिंह के मंत्री कर्माशाह (कर्मसिंह) ने अपने जीवन में क्या क्या लोकोत्तर कार्य किये, इस का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। केवल "एपिग्राफिआ इण्डिका" – २। ४२–४७ में उस के सम्बन्ध का शत्रुञ्जयतीर्थ (काठियावाड़ में पालीताणा के पास) पर से मिला हुआ एक शिलालेख प्रकट हुआ था। जिसको कि मुनि जिनविजयजी ने अपने "प्राचीन जैन-लेख-संग्रह" (द्वितीय भाग) पृ० १–७ में अंकित किया है। यह लेख शत्रुञ्जय पर्वत के ऊपर बने हुये मुख्य मन्दिर के द्वार के बांई ओर एक स्थम्भ पर मोटी शिला पर संस्कृत लिपि में खुदा हुआ है। इस लेख में

‡ राजपूताने का इ० पृ० ४७७

केवल ५४ पंक्ति हैं और प्रत्येक पंक्ति में ४० से ५० अक्षर अंकित हैं। इस लेख में विक्रम संवत् १५८७ में चित्रकूट (चित्तौड़) निवासी ओसवाल-कुल-मणि कर्माशाह द्वारा शत्रुंजय का पुनरुद्धार तथा नवीन प्रतिष्ठा कराये जाने का वर्णन है।

प्रारम्भ में इस शिलालेख की गद्य पंक्तियों में लिखा है कि "संवत् १५५७ में जिस समय कर्माशाह ने प्रतिष्ठा कराई तब उस समय गुजरात में सुलतान वहादुरशाह राज्य करता था और वहादुरशाह की ओर से सौराष्ट्र (सोरठ-काठियावाड़) का राज्य-कारोवार सूबेदार मभादरवान (अगरमुभाहिंदखान) चलाता था।

पद्य १ से ७ में मेदपाट (मेवाड़) की राजधानी चित्रकूट (चित्तौड़) और उसके १ कुँभराज, २ राजमल्ल, ३ संग्रामसिंह, और ४ रत्नसिंह इन चार राजाओं का उल्लेख है। प्रतिष्ठा-समय राणा रत्नसिंह राज्य करता था। ८ से २२ तक के श्लोकोंमें कर्माशाह के वंश और कुटुम्ब का संक्षिप्त वर्णन है। यथाः—गोपगिरि (वर्तमान ग्वालियर) में श्री आमराज एक राजपूत निवास करते थे। वह वप्पभट्टिसूरि जैनाचार्य के उपदेश से प्रभावित हो कर जैनधर्म में दीक्षित हो गये। उनकी वैश्यकुलोत्पन्न सहधर्मिणी की कूख से एक पुत्र-रत्न हुआ, जो राजकोठारी (भण्डारी) प्रसिद्ध हुआ और वह ओसवाल जाति में सम्मलित किया गया।

इसी वंश में पीछे एक सारणदेव प्रसिद्ध पुरुष हुआ जिसकी ९वीं पीढ़ी में इस तीर्थोद्धार के कर्ता कर्माशाह ने जन्म लिया।

वे पीढ़ी निम्न प्रकार हैं:—

* वंश वृक्ष *

सारणदेव

|

रामदेव

|

लक्ष्मीसिंह

|

भुवनपाल

|

श्रीभोजराज

|

ठक्करसिंह

|

खेता

|

नरसिंह

|

तोलाशाह
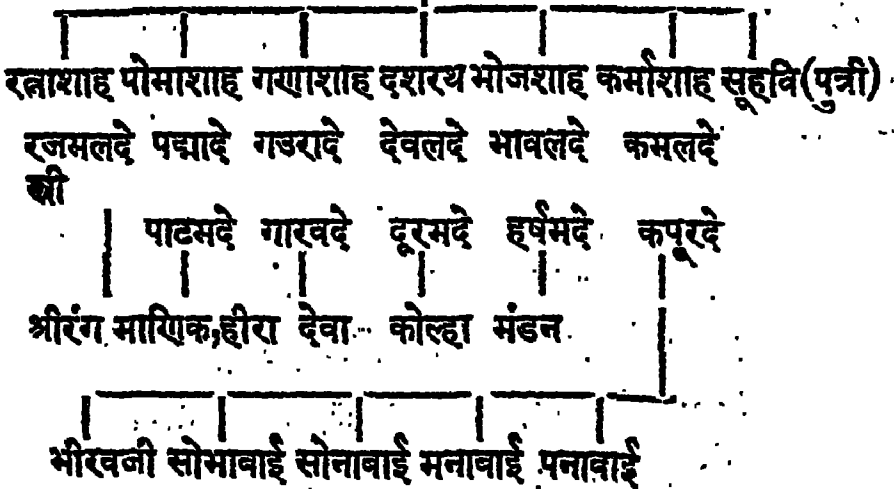
कर्माशाह का पिता तोलाशाह महाराणा साँगा का परम मित्र था। महाराणा ने उसे अपना अमात्य बनाना चाहा परन्तु उसने आदर पूर्वक उसका निषेध कर केवल श्रेष्ठी पद ही स्वीकार किया वह बड़ा न्यायी, विनयी, दाता, ज्ञाता, मानी और धनी था। याचकों को हाथी, घोड़े, वस्त्र, आभूषण आदि बहुमूल्य चीजें दे देकर कल्पवृक्ष की तरह उनका दारिद्र नष्ट कर देता था। जैनधर्म का पूर्ण अनुरागी था।

धर्मरत्नसूरि संघ के सहित यात्रा करते करते जब चित्रकूट में आये तब सूरिजी का आगमन सुनकर महाराणा साँगा अपने हाथी, घोड़े, सैन्य और वादित्र वगैरह लेकर उनके सन्मुख गये। सूरिजी को प्रणाम कर उनका सदुपदेश श्रवण किया। बाद में बहुत आडम्बर के साथ संघ का प्रवेशोत्सव किया और यथायोग्य सब संघजनों को निवास करने के लिए वासस्थान दिये। तोला शाह भी अपने पुत्रों के साथ संघ की यथेष्ट भक्ति करता हुआ सूरिजी की निरन्तर धर्म देशना सुनने लगा। राणा भी सूरिजी के पास आते थे और धर्मोपदेश सुना करते थे। सूरिजी के उपदेश से संतुष्ट होकर राणा (साँगा) ने पाप के मूल भूत शिकार आदि दुर्व्यसनों को त्याग दिया।

वहाँ पर एक पुरुषोत्तम नामक ब्राह्मण था जो बड़ा गर्विष्ठ विद्वान और दूसरों के प्रति असहिष्णुता रखने वाला था। सूरिजी ने उसके साथ राजसभा में सात दिन तक वादविवाद कर उसे

पराजित किया इस बात का उल्लेख एक दूसरी प्रशस्ति में भी किया हुआ है। यथा—

कीर्त्या च वादेन जितो महीपान द्विधा द्विजो पै रिह चित्रकूटे।
जितस्त्रिकूटे नृपतेः समक्ष महोभिरहयान तुरङ्ग संख्यैः ॥

कर्माशाह मंत्री होने से पूर्व कपड़े का व्यापार करता था। बंगाल और चीन वगैरह देशों से करोड़ों रुपयों का माल उस की दुकान पर आता जाता था। इस व्यापार में उसने अपरिमित रूप में द्रव्य की प्राप्ति की थी। शाहजादा बहादुरखान ने भी कर्माशाह की दुकान से बहुतसा कपड़ा खरीदा था। जो पीछे से बहादुर शाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शाहजादे की अवस्था में जब वह उधर आया तो, आवश्यकता होने पर कर्माशाह ने एक लाख रुपये बिना किसी शर्त के दिये। ...... इसी उपकार के बदले में उसने जब बादशाह हुआ शत्रुञ्जय के उद्धार करने की तथा मंदिर बनाने की इजाजत दी। कर्माशाह ने करोड़ों रुपयें इसमें खर्च किये जिसका वर्णन प्रशस्ति में मिलता है।

शिलालेखों एवं प्रशस्तियों में कर्माशाह का नाम कर्मसिंह भी मिलता है। इसके पूर्वजों के नाम भी सिंहान्तक हैं।

लिखने का अभिप्राय यह है कि जब से क्षत्रियों के नाम सिंहान्तक इतिहास में पाये जाते हैं तब ही से जैन क्षत्रियों (महाजनों) के भी मिलते हैं।

पं० गौरीशंकरजी ने कर्मसिंह को महाराणा रत्नसिंह का मंत्री लिखा है। वह समय लड़ाइयों का था अतएव वह अवश्य वीर

होना चाहिये।

प्रशस्ति में लिखा है :—

'श्री रत्नसिंह राज्ये राज्य व्यापार भार धौरेयः'

अर्थात् वह रत्नसिंह के राज्य में राज्य और व्यापार दोनों में धूरी था।

इसके पिता तोलाशाह साँगा के परम मित्र थे। साँगा जैसे वीर प्रकृति के पुरुष की मित्रता वीर ही से हो सकती है।

राणा रत्नसिंह के दरबार में कर्माशाह का अत्यधिक मान था। वह राज-काज में प्रवीण और राणा रत्नसिंह का प्रधान था।

२४ से ३२ पद्य में कहा है कि कर्माशाह ने सुगुरु के पास श्री शत्रुंजयतीर्थ का माहात्म्य सुन कर उस के पुनरुद्धार करने की इच्छा प्रकट की और गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के पास से उद्धार कराने के सम्बन्ध में स्फुरन्मान (फर्मान) लेकर कर्माशाह ने अगणित द्रव्य व्यय करके सिद्धाचल का शुभ उद्धार किया। १५८७ और शक सं० १४५३ वैशाख कृष्ण ६ को अनेक श्रावक और अनेक मुनि आचार्यों के सम्मेलन में कल्याणकारी प्रतिष्ठा कराई।

पीछे के पद्यों में कर्माशाह के इस कार्य के करने के लिये उस की प्रशंसा लिखी हुई है।

इस उद्धार के काम के लिये तीन सूत्रधार (सुथार) अहमदाबाद से और १९ चित्तौड़ से गये थे। मुसलमानों के समय में नवीन मन्दिर तो क्या प्राचीन मन्दिर ही नहीं रहने पाते थे। फिर

भी ऐसी विपरीत स्थिति में कर्माशाह ने शत्रुञ्जय का जीर्णोद्धार कराया, इससे उसकी निर्भयता, राज्यप्रतिष्ठा और जैनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा का परिचय मिलता है।

[१३ जनवरी सन् ३३]

आशाशाह की वीर-माता

जननी जन तो भक्त जन या दाता या सूर।
नहीं तो रहना बांझ ही वृथा गँवा मत नूर॥
—अज्ञात

आशाशाह की वीर-माता का नाम ऐतिहासिक विद्वानों को ज्ञात नहीं, वह क़ीमती मोती की भान्ति अन्तस्थलमें छुपा हुआ है, फिर भी उसकी प्रखर आभा संसार को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर रही है। अपने जीवन में उसने क्या क्या लोकोपयोगी और वीरोचित कार्य किये? उसका निर्मल चरित्र और कोमल स्वभाव कितना बढ़ा चढ़ा था? वह सब कुछ अन्धकार में विलीन हो गया है। तो भी उसके जीवन का केवल एक कार्य ही ऐसा है जो हमारी आँखें खोलता है और उसकी मनोवृत्ति पर काफ़ी प्रकाश डालता है। पूर्व युग में सर्व साधारण के विषय में कुछ लिखा जाय, ऐसी भारत में प्रथा ही न थी, केवल राजे महाराजों के गीत गाये जाते थे, यही कारण है कि हम इस वीर माता के लोकोत्तर कार्यों से अनभिज्ञ हैं, हमें अपनी इस अज्ञानता पर तरस आता है।

इस देवी ने हिन्दु-कुल-तिलक महाराणा प्रताप के पिता उदय-सिंह को—जब कि वह निरा बालक था—प्राण-रक्षा की थी, उस निराश्रय को अपने कुटुम्ब का मोह छोड़ कर आश्रय दिया था। यही कारण है कि राणा उदयसिंह के सम्बन्ध में लिखते हुये टॉड् साहब को अपने राजस्थान में प्रसङ्ग वश इस देवी का उल्लेख भी दो लाइन में करना पड़ा है।

चित्तौड़ के राज्यासन पर बैठते ही दासी-पुत्र बनवीर का हृदय बदल गया, उसे बे पिये ही दो बोतल का नशा रहने लगा। स्वार्थ-परता कृतज्ञता को धर दबाती है; लोभ दया को स्थिर नहीं रहने देता। जो बनवीर विक्रमाजित को गद्दी से उतार कर राज्य-प्राप्त करना घोर पाप समझता था, वही बनवीर राज्यासन पर बैठते ही सदा निष्कंटक राज्य करते रहने की कूट नीति सोचने लगा †। वह राज्य के यथार्थ उत्तराधिकारी बालक उदयसिंह को अपने पथ में काँटा समझ कर उसे मिटा देने के लिये क्रूर रात्रि की बाट जोहने लगा। धीरे २ रात्रि हो गई। कुमार उदयसिंह ने भो-जनादि करके शयन किया। उनकी धाई बिस्तरे पर बैठ सेवा करने लगी। कुछ विलम्ब के पीछे रणवास में घोर आर्तनाद और रोने का शब्द सुनाई आने लगा। इस शब्द को सुन कर

† यह बनवीर दासी-पुत्र था और उदयसिंह का रिश्ते में चाचा लगता था। राणा संग्रामसिंह के स्वर्गासीन होने पर उसके पुत्र क्रमशः रत्नसिंह और विक्र-माजित मेवाड़ के अधीश्वर हुये, किन्तु विक्रमाजित अयोग्य था इसलिये मेवाड़ हितैषी सरदारों ने विक्रमाजित को हटा कर बालक उदयसिंह के बालिग होने तक बनवीर को चित्तौड़ के राज्यासन पर अभिषिक्त कर दिया था।

पन्ना धाय विस्मित हुई। वह डर से उठना ही चाहती थी, कि इतने में ही वारी (नाई) राजकुमार की जूठन आदि उठाने को वहाँ आया और भय विह्वल भाव से कहने लगा "बहुत बुरा हुआ सत्यानाश होगया, वनवीर ने राणा विक्रमाजित को मार डाला।" धाई का हृदय काँप गया, वह समझ गई कि निष्ठुर-हृदय वनवीर केवल विक्रमाजित को ही मारकर चुप न होगा, वरन् उदयसिंह के मारनें को भी आवेगा। उसने तत्काल बालक उदयसिंह को जिसकी अवस्था इस समय १५ वर्ष की थी, किसी युक्ति से बाहर निकाल दिया और उसके पलंग पर उसी अवस्था के अपने पुत्र को सुला दिया। इतने में ही रक्त-लोलुपी पिशाच-हृदय वनवीर आ पहुँचा और बालक उदयसिंह को खोजने लगा। तब पन्ना धाय ने इस रक्त-लोलुप को अपने पुत्र की ओर संकेत कर दिया, उस चाण्डाल ने उसी को राजकुमार समझ उसके कोमल हृदय में खंजर भोंक दिया। बालक सदैव को सो गया, पन्ना धाय ने अपने स्वामी के हितार्थ अपने बालक का बलिदान करके उफ़! तक न की। अपने पुत्र के मारे जानें पर पन्ना धाय महलों से निकल कर उदयसिंह के पास जा पहुँची। आगे टॉड् साहब लिखते हैं कि :—कुमार को साथ लेकर पन्ना धाय नें वीरबाघजी के पुत्र सिंहराव के पास जाकर रहने की प्रार्थना की, वनवीर के भय से उसने राजकुमार की रक्षा करना स्वीकार नहीं किया और अत्यन्त शोकयुक्त होकर बोला—"मैं तो बहुतेरा चाहता हूँ कि राजकुमार की रक्षा करूँ परन्तु बनवीर इस बात को जान कर

वंश सहित मेरा संहार कर डालेगा। मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसका सामना करूँ।" इसके उपरान्त पन्ना देवल को छोड़ कर डूंगरपुर नामक स्थान में गई और वहाँ के रावल ऐशकर्ण (यशकर्ण) के पास राजकुमार को रखना चाहा, परन्तु उसने भी भय के मारे राजकुमार को नहीं रक्खा। तदुपरान्त विश्वासी और हितकारी भीलों के द्वारा रक्षित हो आरावली के दुर्गम पहाड़ और ईडर के कूट मार्गों को लाँघ कर, कुमार को साथ लिये हुये पन्ना कुँभलमेरु-दुर्ग में पहुँची। यहाँ पर पन्ना की बुद्धिमानी से काम हो गया। देपुरा गोत्र-कुल में उत्पन्न हुआ आशाशाह देपरा नामक एक जैन उस समय कुंभलमेरु में क़िलेदार था, पन्ना नें उससे मिलना चाहा; आशाशाह ने प्रार्थना स्वीकार करके विश्राम-गृह में पन्ना को बुलाया। वहाँ पहुँचते ही धात्री नें बालक उदय-सिंह को आशाशाह की गोद में बिठाकर कहा— 'अपने राजा के प्राण बचाइये' परन्तु आशाशाह ने अप्रसन्न और भीत होकर कुमार को गोद से उतारना चाहा, आशा की माता भी वहीं पर थी, पुत्र की ऐसी कायरता देखकर उसको फटकारते हुए उपदेश पूर्ण शब्दों में बोली ‡।"

"आशा! क्या तू मेरा पुत्र नहीं है? क्या मैंनें तुझे व्यर्थ में पालपोस कर इतना बड़ा किया है? धिक्कार है तेरे जीवन को! क्या ही अच्छा होता जो तू मेरे उर से जन्म ही न लेता, तेरे भार से पृथ्वी बोझों मरती है। जो मनुष्य विपत्ति में किसी के काम नहीं

‡ टाड् राजस्थान द्वि० खं० अ० ९ पृ० २४५-४६।

आता, निरपराधियों और बेकसों को अत्याचारियों के चंगुल से सामर्थ्य रहते हुये भी नहीं बचा सकता, निराश्रयों को आश्रय नहीं दे सकता, ऐसे अधम को संसार में जीने का अधिकार नहीं। आ, जिन हाथों से लोरियाँ गा-गा कर तुझे इतना बड़ा किया, आज उन्हीं हाथों से तेरा जीवन समाप्त करदूँ।"

इतना कहकर वह भूखी शेरनी की भांति आशाशाह पर झपट पड़ी और चाहती थी कि ऐसे नराधम, भीरु, कायर और अधर्मी पुत्र का गला घोट दूँ, कि आशाशाह अपनी वीर-माता के पावों में गिर पड़ा, उसकी भीरुता हिरन होगई। वह घुटने टेक अश्रुविन्दुओं से अपनी वीर-माता के चरण-कमलों का अभिषेक करने लगा। वह मातृ-भक्त गद्-गद् कण्ठ से बोला—माँ! तुम्हारा पुत्र होकर भी मैं यह भीरुता कर सकता था? क्या सिंहनी-पुत्र शृगाल के भय से अपने धर्म से विमुख हो सकता है? क्या प्राणों के तुच्छ मोह में पड़कर मैं शरणागत की रक्षा न करके अपने धर्म से विमुख होसकता था? मेरी अच्छी अम्मा! क्या वास्तव में तुम्हें यह भ्रम होगया था?"

आशाशाह के वीरोचित शब्द सुनकर वीर-माता का हृदय उमड़ आया, वह उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरने लगी। आशाशाह माता का यह व्यवहार देखकर मुस्करा कर बोला:—"माँ यह क्या? कहाँ तो तुम मेरा जीवन समाप्त कर देना चाहती थीं और कहाँ......"

वीर-माता बात काट कर बोली, बेटा क्षत्राणियों का अद्भुत

स्वभाव होता है। वह कर्तव्य-विमुख पुत्र या पति का मुँह देखना नहीं चाहतीं, किन्तु कर्तव्य-परायण की वह बलैयाँ लेती हैं, उनके लिये मिट जाती हैं।"

वीर आशाशाह ने कुमार उदयसिंह को अपना भतीजा कहके प्रसिद्ध किया और युवा होने पर आशाशाह ने उदयसिंह को अन्य सामन्तों की सहायता से चित्तौड़ का सिंहासन दिला दिया। जबकि मेवाड़ के बड़े-बड़े सामन्त, राज्य से बड़ी-बड़ी जागीर पाने वाले चित्तौड़के यथार्थ उत्तराधिकारी कुमार उदयसिंह को शरण न दे सके, तब एक जैन-कुलोत्पन्न महिला ने जो कार्य किया वह अवश्य ही सराहने योग्य है। आज भी इस सभ्यता के युग में जब कि हर-प्रकार की शिकायतों के लिये न्यायालय खुले हुए हैं, राजद्रोही को शरण देने वाला दण्डनीय होता है। तब उस ज़माने में जब कि राजा ही सर्वे-सर्वा होता था, वह बिना किसी अदालत के अपनी इच्छानुसार मनुष्यों के प्राण हरण कर सकता था; तब ऐसे संकटके समयमें भी उस महिलारत्न ने जो कार्य कर दिखाया था, वह आदर्श है। यदि इसी प्रकार आज भी जैन-माताएँ अपने पुत्रों को सत्यासत्य कर्तव्य का बोध कराती रहें तो शीघ्र ही इस दुखिया भारत का बेड़ा पार हो जाये।

अभयदान पै वारिये; अमित यज्ञ को दान।

—श्रीवियोगिहरि

[२४ अक्टूबर सन् ३२]

नोट—यह लेख जैनप्रकाश दिसम्बर सन् २८ में प्रकाशित होचुका है अब कुछ परिवर्तन करके पुनः लिखा गया है।

भामाशाह का घराना

भारमल

भारमल कावड़िया गोत्रोत्पन्न ओसवाल जाति का महाजन था। मेवाड़ के प्रसिद्ध शूरवीर महाराणा साँगा ने इसको वि० सं० १६१० ई० स० १५५३ में अलवर से बुलाकर रणथम्भोर का क़िलेदार नियत किया था। पीछे से जब हाड़ा सूरजमल बून्दीवाला वहाँ का क़िलेदार नियत हुआ, उस समय भी रणथम्भोर का बहुत सा काम इसी के हाथ में था †। राणा उदयसिंह के शासन-काल में यह उनके प्रधान पद पर प्रतिष्ठित हुआ। इसके सम्बन्ध की युद्ध-घटनाओं का अभी तक कोई विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है। फिर भी महाराणा संग्रामसिंह जैसे प्रसिद्ध-युद्ध-प्रिय व्यक्ति द्वारा इसका अलवर से बुलाया जाना, रणथम्भोर जैसे क़िले का क़िलेदार नियत होना और फिर क़िलेदार से एकदम राणा उदयसिंह का मंत्री होना ही इसके वीरत्व और राज्य-नीतिज्ञ होने के काफ़ी प्रमाण हैं। इसी को मेवाड़ोद्धारक भामाशाह और ताराचन्द्र के भाग्यशाली पिता होने का गौरव प्राप्त हुआ था।

सूर-सुतहिं जग जन्म-संग, सहज जंग जागीर।
समर-मरण में सब मिल्यौ, अरु खिताब रण-धीर॥

—वियोगिहरि

[२५ अक्टूबर सन् ३२]

† राजपूताने का इ० ती० ख० पृ० ७४३।

ताराचंद

खण्ड-खण्ड है जाय वरु, देतु न पाछे पेंड़।
लरत सूरमा खेत को मरत न छांड़तु मेड़॥

—वियोगिहरि

वीर ताराचन्द राणा उदयसिंह के प्रधान भारमल का सुयोग्य पुत्र और मेवाड़ोद्धारक भामाशाह का भाई था। यह स्वभाव से ही वीर प्रकृति का मनुष्य था। हल्दी-घाटी का युद्ध कैसा भयानक हुआ? इसकी साक्षी इतिहास के पृष्ठ पुकार २ कर दे रहे हैं†। २१ हजार राजपूतों ने मेवाड़ की स्वतंत्रता के

---

† इस इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी के प्रति श्री० सोहनलाल द्विवेदी ने लिखा है :—

वैरागिनि-सी बीहड़ वन में, कहाँ छिपी बैठी एकान्त।
मातः आज तुम्हारे दर्शन को, मैं हूँ व्याकुल उद्भ्रान्त॥
तपस्विनी, नीरव निर्जन में, कौन साधना में तल्लीन।
बीते दिन की मधुरस्मृति में, क्या तुम रहती हो लवलीन॥
जगतीतल की समरभूमि में, तुम पावन हो लाखों में।
दर्शन दो, तव चरण-धूलि, ले लूँ मस्तक में, आँखों में॥
तुम में ही हो गये वतन के लिए अनेकों वीर शहीद।
तुम-सा तीर्थस्थान कौन, हम मतवालों के लिए पुनीत॥
आजादी के दीवानों को, क्या जग के उपकरणों में।
मन्दिर मसजिद गिरजा सब तो, बसे तुम्हारे चरणों में॥

लिए—भारतीय आन के लिये अपने प्राणों की आहुति दे दी; किन्तु देश का दुर्भाग्य कि वह इसे स्वतंत्र न कर सके। हो भी कैसे? जब कि राजपूत-कुलंगार शक्तसिंह (राणा प्रताप के भाई) और आमेराधिपति मानसिंह जैसे शत्रु का पक्ष लेकर अपने देश-वासियों से लड़ रहे थे। इसी संसार-प्रसिद्ध युद्ध में वीर ताराचंद भी राणा प्रताप के साथ था [1]। और प्राणों के तुच्छ मोह को

कहाँ तुम्हारे आँगन में खेला था वह माई का लाल।
वह माई का लाल, जिसे पा करके तुम हो गई निहाल॥

वह माई का लाल, जिसे दुनिया कहती है वीर प्रताप।
कहाँ तुम्हारे आँगन में; उसके पवित्र चरणों की छाप॥

उसके पद-रज की क़ीमत क्या हो सकता है यह जीवन।
स्वीकृत है वरदान मिले, लो चढ़ा रहा अपना कण॥

तुमने स्वतन्त्रता के स्वर में, गाया प्रथम-प्रथम रण-गान।
दौड़ पड़े रजपूत बाँकुरे, सुन-सुन कर आतुर आह्वान॥

हल्दी घाटी; मचा तुम्हारे आँगन में-भीषण संग्राम।
रज में लीन होगये, पल में अगणित राजमुकुट अभिराम॥

युग-युग बीत गये, तब तुमने खेला था अद्भुत रणरंग।
एक बार फिर भरो, हमारे—हृदयों में, माँ वही उमंग॥

गाओ, माँ, फिर एक बार तुम, वे मरने के मीठे गान।
हम मतवाले हों स्वदेश के—चरणों में हँस-हँस बलिदान॥

[1] राजपूताने का इ० ख० ती० पृ० ७४३।

छोड़ कर अपने प्रतिद्वन्दियों से जूझ कर अत्यन्त वीरता पूर्वक युद्ध किया। हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् यह मालवे की ओर चला गया। वहाँ शाहबाजखाँ ने जा घेरा, उसके साथ युद्ध करता हुआ वसी के पास जा पहुँचा और वहाँ घायल होने के कारण बेहोश होकर गिर पड़ा। वसी के राव सांईदास देवड़ा, घायल ताराचन्द को उठाकर अपने क़िले में ले गया और वहाँ उस की अच्छी परिचर्य्या की। ताराचन्द गोड़वाड़ प्रदेश का हाकिम (गवर्नर) भी रहा था और हल्दी घाटी के युद्ध से पूर्व वह सादड़ी में रहता था। उसने सादड़ी के बाहर एक बारहदरी और बावड़ी बनवाई; उसके पास ही ताराचन्द उसकी चार स्त्रियाँ एक खवास छः गायनें एक गवैया और उस गवैये की औरत की मूर्तियाँ पत्थरों पर खुदी हुई हैं‡।

[२५ अक्टूबर सन् ३२]

भामाशाह

कहत महादानी उन्हें चाटुकार मतिक्रूर।
पीठहुँ को नहिं देत जे, कृपणदान रण-सूर॥
—वियोगीहरि

स्वाधीनता की लीलास्थली वीर-प्रसवा मेवाड़-भूमि के इतिहास में भामाशाह का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। हल्दीघाटी का युद्ध कैसा भयानक हुआ, यह पाठकों ने

‡ राज० पू० का इ० ती० ख० पृ० ७४३।

मेवाड़ के इतिहास में पढ़ा होगा † इसी युद्ध में राणा प्रताप की ओर से वीर भामाशाह और उसका भाई ताराचन्द भी लड़ा था ‡ २१ हजार राजपूतों ने असंख्य यवन-सेना के साथ युद्ध करके स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों की आहुति दे दी, किन्तु दुर्भाग्य कि वे मेवाड़ को यवनों द्वारा पद्दलित होने से न बचा सके। समस्त मेवाड़ पर यवनों का आतङ्क छा गया। युद्ध-परित्याग करने पर राणा प्रताप मेवाड़ का पुनरुद्धार करने की प्रबल आकांक्षा को लिये हुये वीरान जंगलो में भटकते फिरते थे। उनके ऐशोआराम में पलने योग्य बच्चे, भोजन के लिये उनके चारों तरफ रोते रहते थे। उनके रहने के लिये कोई सुरक्षित स्थान न था। अत्याचारी मुग़लों के आक्रमणों के कारण बना बनाया भोजन राणाजी को पाँचबार छोड़ना पड़ा था। इतने पर भी आन पर मिटने वाले समर-केसरी प्रताप विचलित नहीं हुये। वह अपने पुत्रों और सम्बन्धियों को

---

† हल्दीघाटी का यह विख्यात युद्ध १८ जून सन् १५७६ ईस्वी को एक घड़ी दिन चढ़े आरम्भ हुआ था और उसी दिन सायंकाल तक समाप्त होगया था। (चान्द वर्ष ११ पूर्ण संख्या १२२ पृ० ११८) और अब हर्ष है कि कुछ वर्षों से ज्येष्ठ शुक्ला ७ का इस स्वतन्त्रता बलिदान दिवस की पवित्र स्मृति में कुछ कर्म-वीरों ने वहाँ मेले का आयोजन करके किसी कवि के निम्न उद्गारों की पूर्ति की है—

शहीदों के मजारों पर जुड़ेंगे हर बरस मेले।
वतनपर मरने वालों का यही बाक़ी निशां होगा॥

‡ राजपूताने का इतिहास तीसरा खण्ड पृ० ७४३।

प्रसन्नता पूर्वक रणक्षेत्र में अपने साथ रहते हुये देखकर यही कहा करते थे कि "राजपूतों का जन्म ही इसलिये होता है।" परन्तु उस पर्वत जैसे स्थिर मनुष्य को भी आपत्तियों के प्रलय-कारी झोकों ने विचलित कर दिया। एक दफ़ा जंगली अन्न के आटे की रोटियाँ बनाई गईं और प्रत्येक के भाग में एक एक रोटी—आधी सुबह और आधी शाम के लिये—आई। राणा प्रताप राजनैतिक पेचीदा उलझनों के सुलझाने में व्यस्त थे, वे मातृ-भूमि की परतंत्रता से दुखी होकर गर्म निश्वास छोड़ रहे थे कि, इतने में लड़की के हृदय-भेदी चीत्कार ने उन्हें चौंका दिया। बात यह हुई कि एक जंगली बिल्ली छोटी लड़की के हाथ में से रोटी को छीन कर लेगई, जिससे कि वह मारे भूख के चिल्लाने लगी। ऐसी ऐसी अनेक आपत्तियों से घिरे हुये, शत्रु के प्रवाह को रोकने में असमर्थ होने के कारण, वीर चूड़ामणि प्रताप मेवाड़ छोड़ने को जब उद्यत हुए तब भामाशाह राणाजी के स्वदेश-निर्वासन के विचार को सुनकर रो उठा। इस करुण दृश्य को कविवर लोचनप्रसादजी पाण्डेय ने (खंडवा से प्रकाशित ५ जून सन् १९१३ की प्रभा में) इस प्रकार चित्रित किया था:—

(१)

"राणा मेवाड़-स्वामी अहह! कर रहे आज हैं देश त्याग,
वंशं, ख्याति, प्रतिष्ठा-हित दुख वन के, ले रहे सानुराग।"
पाते ही वृद्ध मंत्री वह वणिक, अहो! वृत्त ऐसा दुरन्त,
घोड़े पै हो सवार प्रखर गति चला शाहभामा तुरन्त॥

(२)

जाते-जाते उठे यों, वणिक-हृदय में आप ही भाव नाना—
क्यों जाते हैं; कहाँ हो विवश? पड़ गये लोभ में तो न राणा?
आशा तो है न होगी; इस तरह उन्हें हीनता से विरक्ति।
है, आर्यों की प्रतिष्ठा अविचल उनकी आत्मदा आत्मशक्ति॥

(३)

"हा! अर्थाभाव ही के हित नृप तजना चाहते हैं स्वदेश!"
ऐसा मैंने किसी को उसदिन कहते था सुना हाय क्लेश!
हिन्दु-सूर्य प्रतापी प्रखरतर कहाँ, शक्तिशाली प्रताप?
पीड़ा-क्रीड़ा प्रपूर्ण प्रबल अति कहाँ निन्द्य अर्थान्नताप॥

(४)

जो ऐसी ही अवस्था इस समय हुई प्राप्त, आगे कदापि;
तो तू स्वाभाविकी रे! वणिक, कृपणता चित्त लाना न पापी!
हे हे मेवाड़-माता! बल अनुपम तू दे मुझे आज ऐसा,
सेवा में त्याग-युक्त प्रकट कर सकूँ वीर सत्पुत्र जैसा॥

(५)

जो तू आधीन होके यवन-नृपति के क्लेश नाना सहेगी,
तो क्या आधीनता का अनल न हमको नित्यही माँ! दहेगी?
खोके स्वातंत्र्य रूपी मणि हम दुःखके, घोर काली निशामें,
जावेंगे क्या न हा! हा! तज कुल-गरिमा, मृत्युही की दिशा में!!

(६)

जो श्री-मेवाड़-भू के शुचितर कुल के गर्व का कीर्ति-केतु
जावेगा टूट, तो क्या फिर धन जन तू सोच हो, लाभ हेतु।
लेलेंगे क्रूरता से हर कर रिपु जो, सैन्य की वस्तु सारी,
मारे मारे फिरेंगे, तब हम, मधु की मक्षिका ज्यों दुखारी॥

(७)

जावेगी मातृ-भू, जो निकल कर सभी हाथ से, हा! हमारे,
तो क्या निर्जीव प्राणी हम सब हैं व्यर्थ ही प्राण धारे?
ऐसा होने न देंगे प्रण कर अपने प्राण का दान देके,
होंगे सेवा चुकाते, अमर निहत हो युद्ध में कीर्ति लेके॥

(८)

आवेगा काम तेरा, कब यह धन हा! रे! कृतघ्नी कठोर,
भामा! धिक्कार लाखों तव धन बल को निन्द्य रे नीच घोर!"
भामा ने यों स्वयं ही कटु वचन कहे खेद पाके अपार,
आँखों से छूटने त्यों अहह! फिर लगी रक्त-पूर्णाश्रुधार॥

(९)

स्वामी को शीघ्रता से, वन-वन फिरता ढूंढता शाह भामा,
पाता अत्यन्त पीड़ा, लख गति नृप के कर्म की हाय! वामा।
सिन्धु-प्रान्तस्थ सीमा पर जब पहुँचा तो वहाँ दूर ही से,
देखा कौटुम्बियों के युत, नरवर को खिन्नता त्याग जी से॥

(१०)

घोड़े से भूमि पै आ, धर कर हय की रास मंत्री चला यों,
माता मेवाड़-भू ने स्वसुत निकट है दूत भेजा भला ज्यों!
जाके मेवाड़-मौर प्रभुवर-पद पै शीश मंत्री झुकाके—
बोला यों नम्रता से नयन-युगल से शोक-आँसू बहा के:—

(११)

"हो जावेगी अनाथा प्रभुवर! जननी, जन्म-भूमि प्रसिद्ध,
त्यागेंगे आप यों, जो कुसमय उसको, हो विपत्यास्त्र-विद्ध!!
राणा के चित्त में यों विषम विषमयी, क्यों हुई आत्म-ग्लानी?
घेरे संसार को आ जलद पटल तो सूर्य की कौन हानी?

(१२)

योद्धा थे साथ में, थे धन जन, न रहा साधनों का अभाव
मंत्री! मैंने दिखाये तब तक अपने क्षात्र-शक्ति प्रभाव।
हों कैसे, भोजनों का दुख जब हम को सालता रोज हाय!
रक्षा वंश-प्रतिष्ठा तब अब अपनी, है कहो, क्या उपाय?

(१३)

रोते हैं राजपुत्र, क्षुधित दुखित हो, अम्ब की ओह देख!
छाती जाती फटी है तब इस शठ की हाय! रे कर्म-रेख!!
ऐसी दीन दशा में कबतक रिपु से युद्ध हा हा! करूँगा?
क्या श्री स्वाधीनता को अकबर-कर में सौंप, स्वाहा करूँगा?

(१४)

पीछे पीछे सदा ही अहह! फिर रही शत्रु-सेना हमारे।
धीरे धीरे कुटुम्बी सुभट हत हुये युद्ध में हाय सारे॥
सामग्री एक भी है, समर-हित नहीं पास में और शेष,
भागी भागी प्रजा भी, समय फिर रही, भोगती घोर क्लेश!!

(१५)

हे मंत्री! सामना मैं कर अब सकता शत्रुओं का न और,
जाता हूँ मातृ-भू को तजकर, इस से दुःख में अन्य ठौर।
मेरी प्यारी प्रजा को अमित दुःख मिले नित्य मेरे निमित्त,
तौभी स्वातंत्र्यरूपी, वह अहह नहीं पासकी श्रेष्ठ वित्त!!

(१६)

क्या ही निश्चिन्तता से भय तज रिपु का सिन्धु के पार जाके
हे हे मंत्री! रहूँगा सुख सहित नया रक्षित स्थान पाके।
मेवाड़ोद्धार हेतु प्रमुदित करके राज्य की स्थापना में,
भीलों की सैन्य लूंगा अगणित धन के साथ ही मैं बना मैं॥

राणा प्रताप और भामाशाह

(१७)

थोड़ा-थोड़ा निराशा भरित वचन ये, भूप के वृद्ध मंत्री—
शोकार्त्त होगया हा! श्रवण कर, गई टूटसी प्राण-तंत्री
पैरों में वृद्ध मंत्री गिरकर नृप के वृक्ष छिन्न लता से,
श्री राणा से लगा यों तब, फिर करने प्रार्थना नम्रता से॥

(१८)

स्वामी हो आप नामी इस अनचर की देह के अन्नदाता,
खाया है अन्न मैंने तव, अबतक हूँ आपका अन्न खाता,
है द्वारा देह की जो रुधिर, वह बना अन्न से आप ही के,
स्वामी हो आप मेरे, तन, धन, जन के भूमि सभी के॥

(१९)

मेरा सर्वस्व हो है तन-सहित प्रभो! भूपते! आपका ही,
भागी हूँगा न दूँ जो तन धन नृप के हेतु, मैं पाप का ही।
जूता मैं श्री पदों के हित यदि बनवा देह की चर्म से दूँ,
तो भी है हाय! थोड़ा यदि तव ऋण को मूढ़ मैं धर्म से दूँ॥

(२०)

है ही क्या शक्ति ऐसी प्रभूवर! मुझमें दे सकूँ जो सहाय!
सिंहों की गीदड़ों से कब विपद घटी बोलिये, हाय! हाय!!
तो भी है पास मेरे कुछ धन जिसको सौंपता आपको मैं,
पाके सो भूप! लौटे, नहीं सह सकता मातृ-भू-ताप को मैं॥

(२१)

कीजे रक्षा प्रजा की इस धन-बल से देश की जाति की भी,
कीजे हे भूप! रक्षा इस धन-बल से वंश की, ख्याति की भी।
होगी सर्वेश की जो अतुलित करुणा, बात सारी बनेगी,
जीतेंगे शत्रुओं को, विषम विपद में शीघ्र सारी कटेगी॥

(२२)

जो आया काम स्वामी ! यह धन, अपने देश-रक्षा हितार्थ,
हो जाऊँगा सवंश, प्रभुवर ! ऋण से छूट के मैं कृतार्थ ॥
हूँ राणा ! वैश्य तौ भी यदि बल रहता वृद्ध होता नहीं मैं,
तो लेके खड्ग जाता समर-हित जहाँ शत्रु होते वहीं मैं ॥

(२३)

मंत्री हूँ, वृद्ध हूँ मैं, अनहित न कभी मैं कहूँगा नरेश !
होगा कष्ट-प्रदाता, डरकर, रिपु से त्यागना व्यर्थ देश ।
हे स्वामी ! लौटियेगा पितरगण का सोचके स्वाभिमान,
जाने दूँगा हहा ! मैं प्रभुवर ! न कभी आपको अन्य स्थान !!

(२४)

देखो तो, जन्म भू है रुदन कर रही, हा ! हत ज्ञान होके,
शक्ति, श्री, बुद्धि, विद्या, रहित वह हुई आपको आज खोके,
माता को दुख रूपी अगम जलधि में मूर्छिता छोड़ जाना,
जाना मैंने यही है ऋण इस युग में पूर्णता से चुकाना ॥

(२५)

बोले यों बात कारी सुन सचिव की वीर श्रीमान् राणा,
हा ! मां मेवाड़ भूमे ! मृतक समझ के तू मुझे भूल जाना ।
जो नाना आपदाएँ नित नई तुझ पै एक से एक आईं,
मेरी ही मूर्खता से अहह ! सकल ही रे गईं हैं बुलाईं ॥

(२६)

मंत्री की स्वामी भक्ति प्रकट लख तथा देख के आत्म-त्याग,
बोले राणा प्रतापी, वचन नर पुनः तुष्ट हो सानुराग ।
'मंत्री पा होगया मैं सुचतुर तुमसा आज भामा ! कृतार्थ,
भेजा क्या मातृ-भू ने रचकर तुमको देश-रक्षा हितार्थ ॥ †

---

†—श्री गोविन्दसिंह जी पंचोली चित्तौड़गढ़ की कृपा से प्राप्त ।

हल्दीघाटी के युद्ध के बाद भामाशाह कुम्भलमेरु की प्रजा को लेकर मालवे में रामपुरे की ओर चला गया था, वहाँ भामाशाह और उसके भाई ताराचन्द ने मालवे पर चढ़ाई करके २५ लाख रुपये तथा २० हज़ार अशर्फियाँ दण्ड स्वरूप वसूल कीं इस संकटावस्था में उस वीर ने देश-भक्ति तथा स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर, कर्नेल जेम्सटॉड के कथनानुसार, राणा प्रताप को जो धन भेट किया था, वह इतना था कि २५ हज़ार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था। इस महान उपकार करने के कारण महात्मा भामाशाह मेवाड़ के उद्धारकर्ता कहलाये गये ‡। भामाशाह के इस अपूर्व त्याग के सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है:—

जा धन के हित नारि तजै पति,
पूत तजै पितु शीलहि सोई।
भाई सों भाई लरै रिपु से पुनि,
मित्रता मित्र तजै दुख जोई।
ता धन को बनिया ह्वै गिन्यो न,
दियो दुख देश के आरत होई।
स्वारथ अर्थ्य तुम्हारोई है,
तुमरे सम और न या जग कोई॥

देशभक्त भामाशाह का यह कैसा अपूर्व स्वार्थ-त्याग है?

‡—देखो टाड राजस्थान जि० १ पृ० ३४९।

जिस धन के लिये केकई ने राम को १४ वर्ष के लिये वनवास भेजा, जिस धन के लिये पाण्डव और कौरवों ने २० अक्षौहणी सेना कटवा डाली, जिस धन के लिये बनवीर ने बालक उदयसिंह की हत्या करने की असफल चेष्टा की, जिस धन के लिये मारवाड़ के कई राजाओं ने अपने पिता और भाइयोंका संहार किया, जिस धन के लिये लोगों ने मान बेचा, धर्म बेचा, कुल-गौरव बेचा साथ ही देश की स्वतंत्रता बेची; वही धन भामाशाह ने देशोद्धार के लिये प्रतापको अर्पण कर दिया। भामाशाहका यह अनोखा त्याग धनलोलुपी मनुष्यों की बलात् आँखें खोल कर उन्हें देशभक्ति का पाठ पढ़ाता है।

भारमल के स्वर्गवास होने पर राणा प्रताप ने भामाशाह को अपना मंत्री नियत किया था। हल्दीघाटी के युद्ध के बाद जब भामाशाह मालवे की ओर चला गया था तब उसकी अनुपस्थिति में रामा सहाणी महाराणाके प्रधान का कार्य करने लगा था। भामाशाह के आने पर रामा से प्रधान का कार्य-भार लेकर पुनः भामाशाह को सौंप दिया गया उसी समय किसी कविका कहा गया प्रचीन पद्य इस प्रकार है:—

भामो परधानो करे रामो कीधो रद्द * ।

भामाशाह के दिये हुये रुपयों का सहारा पाकर राणा प्रताप ने फिर बिखरी हुई शक्ति को बटोर कर रण-भेरी बजादी। जिसे सुनते ही शत्रुओं के हृदय दहल गए, कायरों के प्राण-पखेरू उड़

*—राजपूताने का इतिहास ती० ख० पृ० ७४१।

गये, अकबर के होश-हवास जाते रहे। राणाजी और वीर भामाशाह अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर जगह जगह आक्रमण करते हुये यवनों द्वारा विजित मेवाड़ को पुनः अपने अधिकार में करने लगे। पं० झावरमल्लजी शर्मा सम्पादक दैनिक हिन्दु संसार ने लिखा है:—"इन धावों में भी भामाशाह की वीरता के हाथ देखने का महाराणा को खूब अवसर मिला और उससे वे बड़े प्रसन्न हुये ‡।"

"···इसी प्रकार महाराणा अपने प्रवल पराक्रान्त वीरों की सहायता से बराबर आक्रमण करते रहे और संवत् १६४३ तक उन का चित्तौड़ और माण्डलगढ़ को छोड़कर समस्त मेवाड़ पर फिर से अधिकार होगया। इस विजय में महाराणा की साहस प्रधान वीरता के साथ भामाशाह की उदार सहायता और राजपूत सैनिकों का आत्म-बलिदान ही मुख्य कारण था। आज भामाशाह नहीं है किन्तु उसकी उदारता का बखान सर्वत्र बड़े गौरव के साथ किया जाता है।"

"प्रायः साढ़े तीनसौ वर्ष होने को आये, भामाशाह के वंशज आज भी भामाशाह के नाम पर सम्मान पा रहे हैं। मेवाड़-राजधानी उदयपुर में भामाशाह के वंशज को पंच पंचायत और अन्य विशेष उपलक्षों में सर्व प्रथम गौरव दिया जाता है। समय के उलट

‡—श्री ओझाजी ने भी लिखा है:—महाराणा भामाशाह की बड़ी ख़ातिर करता था और वह दिवेर के शाही थाने पर हमला करने के समय भी राजपूतों के साथ था। राजपूताने का इति. पृ. ७४३।

फेर अथवा कालचक्र की महिमा से भामाशाह के वंशज आज मेवाड़ के दीवानपद पर नहीं हैं और न धन का वल ही उनके पास रह गया है। इसलिये धन की पूजा के इस दुर्घट समय में उनकी प्रधानता, धन-शक्ति सम्पन्न उनकी जाति विरादरी के अन्य लोगों को अखरती है। किन्तु उनके पुण्यश्लोक पूर्वज भामाशाह के नाम का गौरव ही ढाल वनकर उनकी रक्षा कर रहा है। भामाशाह के वंशजों की परम्परागत प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये संवत् १९१२ में तत्सामयिक उदयपुराधीश महाराणा सरुपसिंह को एक आज्ञापत्र निकालना पड़ा था, जिसकी नक़ल ज्यों की त्यों इस प्रकार है:—

"श्री रामोजयति

श्रीगनेशजीप्रसादात् श्रीएकलिंगजी प्रसादात्

भाले का निशान

[सही]

स्वस्तिश्री उदयपुर सुभसुथाने महाराजाधिराज महाराणाजी श्री सरुपसिंघजी आदेशात् कावड्या जेचन्द कुनणो वीरचन्दकस्य अप्रं थारा वड़ा वासा भामो कावड्यो ई राजम्हे साम ध्रमासु काम चाकरी करी जी की मरजाद ठेठसू ध्या है म्हाजना की जातम्हे वावनी त्था चौका को जीमण वा सीग पुंजा होवे जीम्हे पहेली तलक थारे होतो हो सो अगला नगर सेठ वेणीदास करसो कयों अर त तलक थारे न्हीं करवा दीदो अवारू थारी सालसी दीखी कर सेठ पेमचन्द ने हुकम की दो सो वी भी अरज करी

अर न्यात म्हे इकसर मालम हुई सो अब तलक माफक दसतुर के थे थारो कराय्या जाजो आगासु थारा वंस को होवेगा जी के तलक हुवा जावेगा पंचाने वी हुकम करदीय्यो है सौ पेलीतलक थारे होवेगा। प्रवानगी म्हेता सेरसीघ संवत् १९१२ जेठसुद १५बुधे।"×

इसका अभिप्राय यही है कि-"भामाशाह के मुख्य वंशधर की यह प्रतिष्ठा चली आती रही कि, जब महाजनों में समस्त जाति-समुदाय का भोजन आदि होता, तब सब से प्रथम उसके तिलक किया जाता था, परन्तु पीछे से महाजनों ने उसके वंश वालों के तिलक करना, बन्द कर दिया, तब महाराणा स्वरुपसिंह ने उसके कुल की अच्छी सेवा का स्मरण कर इस विषय की जांच कराई और आज्ञा दी कि—महाजनों की जाति में बावनी (सारी जाति का भोजन) तथा चौके का भोजन व सिंहपूजा में पहले के अनुसार तिलक भामाशाह के मुख्य वंशधर के ही किया जाय। इस विषय का परवाना वि० सं० १९१२ ज्येष्ठ सुदी १५को जयचंद कुनणा वीरचन्द कावड़िया के नाम कर दिया, तब से भामाशाह के मुख्य वंशधर के तिलक होने लगा।"

"फिर महाजनों ने महाराणा की उक्त आज्ञा का पालन न किया, जिससे महाराणा फतहसिंह के समय वि०सं०१९५२ कार्तिक सुदी १२ को मुक़दमा होकर उसके तिलक किये जाने की आज्ञा दी गई" †

× हिन्दुसंसार दीपावली अङ्क कार्तिक कृ० ३० सं०१९८२ वि०

† राजपूताने का इ० पृ० ७८७-८८।

वीर भामाशाह ! तुम धन्य हो !! आज प्रायः साढ़े तीनसौ वर्ष से तुम इस संसार में नहीं हो परन्तु यहाँ के बच्चे बच्चे की ज़बान पर तुम्हारे पवित्र नाम की छाप लगी हुई है †। जिस देश के लिये तुमने इतना बड़ा आत्म-त्याग किया था, वह मेवाड़ पुनः अपनी स्वाधीनता प्रायः खो बैठा है। परन्तु फिर भी वहाँ तुम्हारा गुण गान होता रहता है। तुमने अपनी अक्षयकीर्ति से स्वयं को ही नहीं किन्तु समस्त जैन-जातिका मस्तक ऊँचा कर दिया है।

---

† मेवाड़ का अमूल्य और अप्राप्य ऐतिहासिक ग्रन्थरत्न "वीरविनोद" में जिसको कि मुझे सौभाग्य से मान्य ओझाजी के यहाँ देखने का ज़रा सा अवसर मिल गया था पृ० २५१ पर लिखा है कि:—

भामाशाह बड़ी जुरअत का आदमी था। यह महाराणा प्रतापसिंह के शुरू समय से महाराणा अमरसिंह के राज्य के २॥ तथा ३ वर्ष तक प्रधान रहा। इसने ऊपर लिखी हुई बड़ी बड़ी लड़ाइयों में हज़ारों आदमियों का ख़र्च चलाया। यह नामी प्रधान संवत् १६५६ माघ शुक्ल ११ (हि० १००९। ता० ९ रजब ई० १६०० ता० २७ जनवरी) को ५१ वर्ष और ७ महीने की उम्र में परलोक को सिधारा। इसका जन्म संवत् १६०४ आषाढ़ शुक्ल १० (हि० ९५४ ता० ९ जमादि युल अव्वल ई० १५४७ ता० २८ जून) सोमवार को हुआ था। इसने मरनेके एक दिन पहले अपनी स्त्री को एक बही अपने हाथ की लिखी हुई दी और कहा कि इसमें मेवाड़के ख़ज़ाने का कुल हाल लिखा हुआ है। जिस वक्त तक्लीफ़ हो यह बही उन महाराणा की नज़्र करना। यह ख़ैरख़्वाह प्रधान इस बही के लिखे कुल ख़ज़ाने से महाराणा अमरसिंह का कई वर्षों तक ख़र्च चलाता रहा। मरने पर इसके बेटे जीवाशाह को महाराणा अमरसिंह ने प्रधान पद दिया था। वह भी ख़ैरख़्वाह आदमी था। लेकिन भामाशाह की सानी का होना कठिन था।

मेवाड़ोद्धारक भामाशाह का मृत्यु-स्मारक

निःसन्देह वह दिन धन्य होगा, जिस दिन भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिये जैन-समाज के धन-कुबेरों में भामाशाह जैसे सद्भावों का उदय होगा।

× × ×

जिस नररत्न का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके चरित्र, दान आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों की चिरकाल से यही धारणा रही है। किन्तु हाल में रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास तीसरे खण्ड में "महाराणा प्रताप की सम्पत्ति' शीर्षक के नीचे महाराणा के निराश होकर मेवाड़ छोड़ने और भामाशाह के रुपये दे देने पर फिर लड़ाई के लिये तैयारी करने की प्रसिद्ध घटना को असत्य ठहराया है।

इस विषय में आपकी युक्ति का सार 'त्यागभूमि' के शब्दों में इस प्रकार है :—

"महाराणा कुम्भा और साँगा आदि द्वारा उपार्जित अतुल सम्पत्ति अभी तक मौजूद थी, बादशाह अकबर इसे अभी तक न ले पाया था। यदि यह सम्पत्ति न होती तो जहाँगीर से सन्धि होने के बाद महाराणा अमरसिंह उसे इतने अमूल्य रत्न कैसे देता? आगे आने वाले महाराणा जगतसिंह तथा राजसिंह अनेक महादान किस तरह देते और राजसमुद्रादि अनेक वृहत-व्यय-साध्य कार्य किस तरह सम्पन्न होते? इस लिये उस समय भामाशाह ने अपनी तरफ़ से न देकर भिन्न-भिन्न सुरक्षित राज-

कोषों से रुपया लाकर दिया।"

इस पर 'त्यागभूमि' के विद्वान् समालोचक श्रीहंस जी ने लिखा है:—

"निस्सन्देह इस युक्ति का उत्तर देना कठिन है, परन्तु मेवाड़ के राजा महाराणा प्रताप को भी अपने खजानों का ज्ञान न हो, यह मानने को स्वभावतः किसी का दिल तैयार न होगा। ऐसा मान लेना महाराणा प्रताप की शासन-कुशलता और साधारण नीतिमत्ता से इन्कार करना है। दूसरा सवाल यह है कि यदि भामाशाह ने अपनी उपार्जित सम्पत्ति न देकर केवल राजकोषों की ही सम्पत्ति दी होती, तो उसका और उसके वंश का इतना सम्मान, जिसका उल्लेख श्री ओझाजी ने पृ० ७८८ पर किया है ‡, हमें बहुत संभव नहीं दीखता। एक खजांची का यह तो साधारण सा कर्त्तव्य है कि वह आवश्यकता पड़ने पर कोष से रुपया लाकर दे। केवल इतने मात्र से उसके वंशधरों की यह प्रतिष्ठा (महाजनों के जाति-भोज के अवसर पर पहले उसको तिलक किया जाय) आरंभ हो जाय, यह कुछ बहुत अधिक युक्ति-संगत मालूम नहीं होता †।"

इस आलोचना में श्रद्धेय ओझाजी की युक्तिके विरुद्ध जो कल्पना की गई है, वह बहुत कुछ ठीक जान पड़ती है। इसके सिवाय,

---

‡ सम्मान की वह बात इसी लेख में पृ० ९४-९५ में उक्त इतिहास से उद्धृत कर दी गई है।

† त्यागभूमि वर्ष ३, अङ्क ४ पृ० ४४५।

मैं इतना और भी कहना चाहता हूँ कि यदि श्री० ओझाजी का यह लिखना ठीक भी मान लिया जाय कि 'महाराणा कुम्भा और सांगा आदि द्वारा उपार्जित अतुल सम्पत्ति प्रताप के समय तक सुरक्षित थी—वह खर्च नहीं हुई थी, तो वह संम्पत्ति चित्तौड़ या उदयपुर के कुछ गुप्त खजानों में ही सुरक्षित रही होगी। भले ही अकबर को उन खजानों का पता न चल सका हो, परन्तु इन दोनों स्थानों पर अकबर का अधिकार तो पूरा होगया था। और ये स्थान अकबर की फौज से बराबर घिरे रहते थे, तब युद्ध के समय इन गुप्त खजानोंसे अतुल संपत्ति का बाहर निकाला जाना कैसे संभव हो सकता था ? और इस लिये हल्दीघाटी के युद्ध के बाद जब प्रताप के पास पैसा नहीं रहा, तब भामाशाह ने देश-हित के लिये अपने पास से—खुदके उपार्जन किये हुये द्रव्य से—भारी सहायता देकर प्रताप का यह अर्थ-कष्ट दूर किया है; यही ठीक जँचता है। रही अमरसिंह और जगतसिंह द्वारा होने वाले खर्चों की बात, वे सब तो चित्तौड़ तथा उदयपुर के पुनः हस्तगत करने के बाद ही हुये हैं और उनका उक्त गुप्त खजानोंकी सम्पत्ति से होना संभव है, तब उनके आधार पर भामाशाह की उस सामयिक विपुल सहायता तथा भारी स्वार्थ-त्याग पर कैसे आपत्ति की जा सकती है ? अतः इस विषय में ओझाजी का कथन कुछ अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। और यही ठीक जँचता है कि भामाशाह के इस अपूर्व-त्याग की बदौलत ही उस समय मेवाड़ का उद्धार हुआ था, और इसी लिये आज भी भामाशाह मेवाड़ोद्धारक के

नाम से प्रसिद्ध है।

पूजा के योग्य तू है, क्योंकि सजिव श्री शक्ति की मूर्ति तू है।
है आहा! धन्य तेरा, वह धन, जननी भक्ति की मूर्ति तू है॥
तुझ से स्वामी-भक्ति चतुर मंत्री वर आत्मा-त्यागी वीर।
भारत में क्या दुर्लभ है इस वसुधा में भी धार्मिक धीर।

—श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय

[१ मार्च सन् ३०]

जीवाशाह

"महाराणा प्रतापसिंह का प्रधान मंत्री भामाशाह था। महाराणा अमरसिंह के समय तीन वर्ष तक वही प्रधान बना रहा। वि० सं० १६५६ माघ सुदी ११ (ई० स० १६०० ता० १६ जनवरी) को भामाशाह का देहान्त हुआ। उसके पीछे महाराणा ने उसके पुत्र जीवाशाह को अपना प्रधान बनाया। सुलह होने पर कुँवर कर्णसिंह जब बादशाह जहाँगीर के पास अजमेर गया, उस समय यह राजभक्त प्रधान जीवाशाह भी उसके साथ था।" †

२६ अक्टूबर सन् ३२

अक्षयराज

जीवाशाह के स्वर्गासीन होने पर उसका पुत्र अक्षयराज महाराणा कर्णसिंह का मंत्री नियत हुआ‡ और राणा कर्णसिंह के परलोकगत होने पर राणा जगतसिंह का प्रधान भी यही रहा। "राणा प्रताप के समय से ही डूंगरपुर बादशाही अधीनता में चला गया था, जिससे वहाँ के रावल उदयपुर की अधीनता नहीं मानते थे। इसलिये महाराणा ने अपने मंत्री, अक्षयराज को सेना देकर रावल पर (जो उस समय डूंगरपुर का स्वामी था) भेजा। उसके वहाँ पहुँचने पर रावल पहाड़ों में चला गया। †
ओझाजी लिखते हैं कि:—

इस प्रकार चार पीढ़ियों तक स्वामिभक्त भामाशाह के घराने में प्रधान पद रहा। ... इस घराने के सभी पुरुष राज्य के शुभचिन्तक रहे। ... भामाशाह का नाम मेवाड़ में वैसा ही प्रसिद्ध है, जैसा कि गुजरात में वस्तुपाल तेजपाल का।" ❋
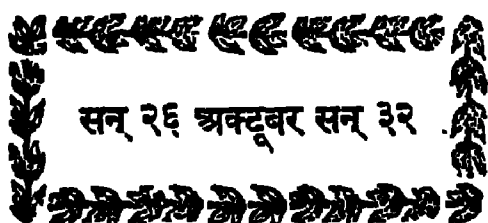
‡ रा० पू० इ० ख० ती० पृ० ७८७।

† रा० पू० का इ० ती० ख० पृ० ८३२।

❋ रा० पू० इ० ख० ती० पृ० ७८७।

संघवी दयालदास

तो देखत तुव भगिनि के, खैंचत पामर केस।
जानि परत, या बाहु में, रह्यौ न बलकौ लेस॥
निज चोटी-बेटीन की सके राखि नहिं लाज।
धिक-धिक ठाढ़ी मूँछ ए, धिक धिक डाढ़ी आज॥

—वियोगीहरि

शान्ति और सब्र की भी कोई सीमा है। घर में अन्न नहीं व्रत करो, जेब में पैसा नहीं सन्तोष करो, हाथ में शक्ति नहीं, इस लिये क्षमा करो, कुछ कर नहीं सकते, इस लिये शान्त रहो यह आदर्श भीरु, अकर्मण्य कापुरुषों का होसकता है; किन्तु जिनके मुँह पर मूँछ और छाती पर बाल हैं अथवा जिनके पहलू में दिल और दिल में तड़प, मस्तक में आँख और आँखों में ग़ैरत का अंश बाक़ी है, उनका यह आदर्श कभी नहीं हो सकता।

दण्ड देने की सामर्थ्य रखते हुए भी अपराधी के अपराध क्षमा करना, ऊँचा आदर्श है किन्तु नेत्रों के सामने होते हुये अत्याचार और अन्याय देख कर भी निश्चेष्ठ बैठे रहना महान् दुष्कर्म है ‡। इसी लिये तो कहा है, कि क्षमा, शान्ति और सब्र की भी कोई सीमा है। दारुण दुःख जब शरीर में प्रवेश कर हृदय

---

‡ जब तू देखे या सुने, होते अत्याचार।
जब तेरा चुप बैठना, है यह पापाचार॥

को जलाने लगता है, तब नेत्रों की राह से कोई चीज़ आँसू रूप में निकल कर उसे बुझा देती है। सूर्य संसार को तप्त कर के उसे तड़पता हुआ देखकर जब हँसने लगता है, तब उसके इस गर्वीले अट्टहास को नष्ट करने के लिए पृथ्वी और आकाश साधन जुटा ही लेते हैं।

प्रकृति का कुछ नियम ही ऐसा है। अत्याचार के विरुद्ध एक न एक रोज आवाज उठती है ‡ और अत्याचारी का गर्व खर्व करने की कोई न कोई युक्ति निकल ही आती है। अत्याचार जब आवश्यकता से अधिक बढ़ जाते हैं, तब अत्याचार सहन करने वाला कैसा ही शान्त महात्मा क्यों न हो, उसके हृदय में भी प्रतिहिंसा की आग भड़क ही उठती है। यह बात पुराण और इतिहास ढोल पीट कर कह रहे हैं। अत्याचारों से ही ऊब कर योगी कृष्ण ने अपने मामा कंस का वध कर डाला, अत्याचार से ही तो ऊब कर धर्मराज युधिष्ठिर जैसे शान्त-स्वभावी अपने सगे सम्बन्धियों से युद्ध करने को विवश हुये, अत्याचार से ही ऊब कर विभीषण ने अपने सगे भाई रावण का एक अपरिचित राम से वध करा डाला और इसी अत्याचार प्रतिहिंसा की प्यास

---

‡ जब धर्म की संसार में हो जाती है हानी।
बदकार किया करते हैं जब ज़ुल्मोरसानी॥
फिरजाता है नेकों की भलाई पै जब पानी।
क़ुदरत के वहीं खिलतेहैं इसरार निहानी॥
— 'नाज़' जैन

बुझाने के लिये भीम ने दुर्योधन का रक्त-पान किया—संसार में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ भी एक ऐसे ही प्रतिहिंसा से उन्मत्त वीर-वर दयालदास का उल्लेख करना है।

लगभग ३०० वर्ष की बात है। जब इस अभागे भारतवर्ष के वक्षस्थल पर यवनों के अनेक राक्षसी अत्याचार हो रहे थे। प्रजा की गाढ़ कमाई हम्माम, मक़बरे और संगमरमर की नहरें बनवाने में खर्च की जा रही थी। शराब के दौर चलते थे, हूरें नाचती थीं, किसी के लिये यह भारत जन्नत और किसी के लिये यह दोज़ख बना हुआ था; तब औरंगज़ेब अपने भाइयों को क़त्ल कर के और वृद्ध पिता शाहजहाँ को क़ैद कर उसी के बनवाये हुए तीन करोड़ के मयूर-सिंहासन पर बैठ कर निरीह प्रजा की क़िस्मत का फ़ैसला करता था। वह धर्मान्ध मुसलमान था। उस के कठोर शासन और अनर्थकारी धर्मान्धता से हिन्दू त्राहि-त्राहि कर उठे थे। अबलाओं, मासूमों और बेकसों पर दिन दहाड़े अत्याचार होते थे, धार्मिक मन्दिर ज़मीदोज़ किये जाते थे, मस्तक पर लगा हुआ तिलक ज़बान से चाट लिया जाता था, बलपूर्वक चोटी काट ली जाती थी।

महात्मा टॉड् साहब लिखते हैं कि:-"औरंगज़ेब ने अपने इष्ट मित्रों को बुलाय इस भयंकर आज्ञा का प्रचार करने के लिये कहा कि "हमारे राज्य के सम्पूर्ण हिन्दुओं को मुसलमान होना पड़ेगा, जो लोग इस आज्ञा को नहीं मानेंगे उनको बलात्कार इस धर्म पर चलाया जायगा।" इस महा भयंकर दुःखदाई आज्ञा का प्रचार

होते ही सारे राज्य में हा हा कार शब्द की ध्वनि सुनाई आने लगी; सहायता और आश्रय-हीन हिंन्दुगण भय के मारे इधर-उधर भागने लगे। आज सनातन धर्म की रक्षा का कोई उपाय न रहा; बहुत हिन्दु लोग मुग़ल-राज्य को छोड़ व्याकुल हो अतिशीघ्र दक्षिण की ओर चले गये, अनेक हिन्दु सन्तान शाही अहलकारों के अत्याचारों से पीड़ित हो, वहाँ से भागने का कोई उपाय न देख कर उन्मत्त हो अपने हाथ से ही अपने हृदय को छेदन करने लगे, जो स्त्री, पुत्र और परिवार अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी वस्तु है, निःसहाय हिन्दुगण पहले अपने हाथ से उनको मारकर फिर उसी कटारी तथा छुरी से भयंकर शोकानल में अपनी आहुति देने लगे। सारा राज्य विना राजा के समान हो गया, चारों ओर से हाहाकार शब्द सुनाई आने लगा, उन दुःखित हुये हिन्दुओं का आर्तनाद, उन निरुपाय और निःसहाय हिन्दुओं के हृदय को विदीर्ण करने वाला शोक ही पल पल में सुनाई पड़ता था। हिन्दुओं का मान और मर्यादा जाती है, कुल-धर्म और ज़ाति-गौरव पाताल को चला चाहता है, आज भारतवर्ष में प्रलय का समय आ पहुँचा है, कौन इस प्रलय के समय में इन अभागे हिन्दुओं को यमराज के हाथ से बचावेगा? कौन इस कुबुद्धिमान दानव के हाथ से सहाय-हीन भारत-सन्तानों का उद्धार करेगा, कोई भी नहीं? जो रक्षा करने वाला है, यदि वही भक्षण करने वाला हो जाय, जिसके ऊपर प्रजा की मान-मर्यादा है, जाति-धर्म का विचार स्थित है, यदि वही अपने पराये का विचार कर सजाति

और विजाति के मनुष्यों को अलग-अलग नेत्रों से देखकर अपने हृदय में पत्थर को बान्धे और अपनी प्रजा तथा आश्रितों को पीड़ित करे, तो वह निःसहाय प्रजा किसके सामने खड़ी होगी ? किसके निकट जाकर सहारा लेगी ? अपना और पराया सजाति और विजाति को न विचार कर सब को बराबर नेत्रों से देखना राजा का आवश्यकीय कर्तव्य है और जो इन कार्यों के पालन करने से विमुख है वह राजा नाम के योग्य नहीं; राज-सिंहासन उसके छूने से भी कलंकित होता है; राज-सिंहासन पर बैठकर जो हिताहित का विचार नहीं करता और गर्व, मोह, क्रोध तथा अहंकार जिसके हृदय में भरा हुआ है और जो अपनी विवेक-शक्ति को खोकर क्रूर धर्म की बुद्धि से परिचालित होता है, वह राजा नहीं है वरन् राजा के नाम को लजाने वाला है; वह प्रजा के सुख-रूपी सूर्य्य का हरण करनेवाला राहू है, देश के भाग्याकाश को घेरने वाला प्रचंड धूमकेतु है। उसके असंख्य पापों से उसका राज्य शीघ्र ही पाताल को चला जाता है, विधाता के सूक्ष्मदर्शन से उस अत्याचारी पापी के मस्तक पर कठोर यमराज का दण्ड गिरता है।"

"मुग़ल कुलपाँसन पाखंडी औरंगज़ेब के कठोर अत्याचार से सम्पूर्ण राज्य में अराजकता उत्पन्न होगई, पीड़ित हुये हिन्दुओं का भागना और आत्म-हत्या करने से नगर, ग्राम और सम्पूर्ण बाज़ार एक साथ ही सूने होगये। तथा सब स्थान श्मशान के समान दिखाई देने लगे। बनियों के न होने से सब बाज़ार सूने

दिखाई देने लगे, किसानों के चले जाने से खेती वन के समान होगई, इस भयंकर उपद्रव के समय में बादशाह ने देखा, राज्य अनेक प्रकार से हीन अवस्था युक्त होगया है, खजाना खाली हो गया अब राजकर्मचारी लोग कर दे नहीं सकते। जिसके पास जाकर माँगे जिसके पास जाँय उसी को अधमरा पावें, तस्करों के अत्याचार से घर सूने हो गये। जब उस पापी ने धन-उपार्जन करने का कोई उपाय न देखा तो भारतवर्ष की सम्पूर्ण हिन्दू-प्रजा के ऊपर मुण्डकर (जजिया) लगाने का विचार किया। इस भयंकर अत्याचार की सूचना होते ही सम्पूर्ण भारतवर्ष के ऊपर मानों वज्र टूट पड़ा; कौनसा उपाय करने से भयंकर विपत्ति से छुटकारा मिलेगा, इसको कोई भी स्थिर न कर सका, सब ही हताश; निरुत्साह और चेष्टा रहित होकर हाहाकार करने लगे; उस हृदय को विदीर्ण करने वाले हाहाकार शब्दों से उस पापी बादशाह का हृदय किंचित भी भयबीत न हुआ; अभागे हिन्दुओं की शोचनीय अवस्था को वह अपने नेत्रों से देखता रहा। उसके कठोर हृदय में किंचित भी दया का संचार न हुआ ‡।

ऐसे संकट के समय में मेवाड़ के सिंहासन पर राणा राजसिंह सिंहासनारूढ थे। इनमें अपने पूर्वजों के सभी गुण विद्यमान थे, भला ये प्रताप का वंशज अपने नेत्रों से ऐसे अत्याचार होते हुये कब देख सकता था, उसकी नसों में पवित्र सूर्यवंश का रक्त दौड़ रहा था; उसने बहुत कुछ सोच विचार के बाद औरंगजेब को

---

‡ टाड् राजस्थान द्वि० खं० अ० १२ पृ० ३६७–६९।

ऐसे घृणित कार्य न करने के लिये पत्र लिखा। किन्तु व्यर्थ ? जिस प्रकार शुद्ध शान्त समीर से आग भड़क उठती है, उसी प्रकार राणा के पत्र से औरंगजेब का क्रोधानल और भी बढ़ गया। उस ने अपनी असंख्य सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। श्री० ओझाजी लिखते हैं :—

"औरंगजेब बादशाह ने हि० स० १०९० ता० ७ शाबान (वि० सं० १७३६ भाद्रपद सुदी ८ ई० स० १६७९ ता० ३ सितम्बर) को महाराणा से लड़ने के लिये बड़ी सेना के साथ दिल्ली से अजमेर की ओर प्रस्थान किया। ·········· महाराणा ने बादशाह के दिल्ली से मेवाड़ पर चढ़ने की खबर पाते ही अपने कुँवरों, सरदारों आदि को दरबार में बुलाकर सलाह की, कि बादशाह से कहाँ और किस प्रकार लड़ना चाहिये।··· उस समय मंत्री दयालदास भी उपस्थित थे ‡।

यह युद्ध कैसा भयंकर हुआ ? राजपूत वीर कैसे खुल कर खेले ? और औरंगजेब को कैसी गहरी हार खानी पड़ी, इस का रोमाँचकारी वर्णन मान्य टॉड् साहब ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में किया है। जब महाराणा पर्वतों में जाकर मुग़लसेना पर आक्रमण कर रहे थे, तब मंत्री दयालदास भी उनके कन्धे बकन्धे साथ था। रणस्थल में हिन्दुधर्म-द्रोही औरंगजेब को पराजित करके भी हिन्दुओं के प्रति किये गये उसके राक्षसी अत्याचार दयालदास के नेत्रों के सामने नाचने लगे। उसके समस्त शरीर में एक प्रकार

‡ राजपूताने का इ० ती० खं० पृ० ८६५—६६।

की बिजली सी दौड़ गई। कमर में लटकी हुई तलवार आततायियों का रक्त चाटने के लिए अधीर हो उठी। उसकी भवें तन गईं, वह मस्ती में झूम कर गुनगुनाया—

"क्या अबलाओं की आबरू उतरते देखना धर्म है? क्या मासूम बच्चों, दीन, दुर्बल मनुष्यों को रक्षा करो—रक्षा करो" चिल्लाते हुऐ देखना धर्म है? क्या धार्मिक स्थानों को धराशायी होते हुये देखना धर्म है? क्या पवित्र मातृभूमि को म्लेच्छों से पद्दलित होते देखना धर्म है? क्या अपमानित होकर भी जीना धर्म है? यदि नहीं, तब क्या अत्याचारी को बार२ क्षमा करके उसे उत्साहित करना, यह धर्म है? अत्याचारियों के सदैव जूते खाते रहो, क्या इसी लिए हमारे ऋषियों ने "क्षमावीरस्य भूषणम्" सूत्र की रचना की है? नहीं वे तो स्पष्ट लिख गये हैं कि:—"शठं प्रति शाठ्यं" फिर यह जानते हुये भी पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को बार-बार क्षमा क्यों किया? यह उसकी उदारता नहीं; मूर्खता थी। आज उसी मूर्खता का कटु-फल भारतवासी भुगत रहे हैं। अप-राधी को क्षमा करना हमारे यहाँ का पुराना आदर्श है। पर, एक ही आदर्श सब जगह और सब समय पर लागू नहीं हो सकता। जो घी बलवान मनुष्य के लिये लाभदायक है, वही घी १० रोज के लंघन किये हुये मनुष्य के लिये घातक है। एक ही बात को एक ही तरह मान लेना यही दुराग्रह है। गाना अच्छी चीज़ है किन्तु, घर में आग लगी हो या मृत्यु हुई हो, तो वही गाना उस समय कर्णकटु प्रतीत होने लगता है। भ्रूण-हत्या सब से अधिक निन्द-

नीय मानी गई है, परन्तु जब बच्चा पेटमें टेढ़ा होकर अटक जाता है, तब उसको काटकर निकालना ही धर्म हो जाता है। वस्तु के प्रत्येक पहलू का देश, काल, पात्र, अपात्र की योग्यता से विचार करना पड़ता है। जो आदर्श महात्माओं को उत्तरोत्तर उन्नति-शिखिर पर चढ़ाने वाला है, वहीं आदर्श साधारण व्यक्तियों को अपने ध्येय से औंधे मुँह नीचे पटक देने वाला है ......"

कहते कहते वीर दयालदास क्रोध से तमतमा उठा और वह गर्म निश्वास छोड़ने लगा। मानों समस्त पीड़ितो की मर्मभेदी आहें उसके ही शरीर में आर्तनाद कर रहीं थीं। दयालदास ने अपनी भुजाओं को तोला, तलवार को ग़ौर से देखा और घोड़े पर सवार होकर जननी जन्मभूमि के ऋण से उऋण होने के लिये प्रस्थान कर दिया। वीर दयालदास की इस रण-यात्रा का वृतान्त मान्य टॉडसाहब के शब्दों में पढ़िये:—

"राणाजी के दयालदास नामक एक अत्यन्त साहसी और कार्य-चतुर दीवान थे; मुग़लों से बदला लेने की प्यास उनके हृदय में सर्वदा प्रज्वलित रहती थी, उन्होंने शीघ्र चलने वाली घुड़सवार सेना को साथ लेकर नर्मदा और वितवा नदी तक फैले हुए मालवा राज्य को लूट लिया, उनकी प्रचंड भुजाओं के बल के सामने कोई भी खड़ा नहीं रह सकता था, सारंगपुर, देवास, सरोंज, माँडू, उज्जैन और चन्देरी इन सब नगरों को इन्होंने बाहु-बल से जीत लिया, विजयी दयालदास ने इन नगरों को लूट कर वहाँ पर जितनी यवन सेना थी; उसमें से बहुतसों को मार डाला;

इस प्रकार से बहुत से नगर और गाँव इनके हाथ से उजाड़े गये। इनके भय से नगर-निवासी यवन इतने व्याकुल हो गये थे, कि किसी को भी अपने बन्धु-बान्धव के प्रति प्रेम न रहा, अधिक क्या कहें, वे लोग अपनी प्यारी स्त्री तथा पुत्रों को भी छोड़-छोड़ कर अपनी अपनी रक्षा के लिये भागने लगे, जिन सम्पूर्ण सामग्रियों के ले जाने का कोई उपाय दृष्टि न आया अन्तः में उनमें अग्नि लगाकर चले गये। अत्याचारी औरंगजेब हृदय में पत्थर को बान्धकर निराश्रय राजपूतों के ऊपर पशुओं के समान आचरण करता था, आज उन लोगों ने ऐसे सुअवसर को पाकर उस दुष्ट को उचित प्रतिफल देने में कुछ भी कसर नहीं की, अधिक क्या कहें ? हिन्दु धर्म से वैर करने वाले बादशाह के धर्म से भी पल्टा लिया। काजियों के हाथ पैरों को बान्ध कर उनकी दाढ़ी मूँछों को मुंडा और उनके कुरानों को कुए में फेंक दिया। दयालदास का हृदय इतना कठोर हो गया था कि उसने अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी मुसलमान को भी क्षमा नहीं किया। तथा मुसलमानों के मालवा राज्य को तो एक बार मरुभूमि के समान कर दिया, इस प्रकार देशों को लूटने और पीड़ित करने से जो विपुल धन इकट्ठा किया, वह अपने स्वामी के धनागार में दे दिया और अपने देश की अनेक प्रकार से वृद्धि की थी।"

"विजय के उत्साह से उत्साहित होकर तेजस्वी दयालदास ने राजकुमार जयसिंह के साथ मिलकर चित्तौड़ के अत्यन्त ही निकट बादशाह के पुत्र अजीम के साथ भयंकर युद्ध करना आरम्भ

किया। इस भयंकर युद्ध में मेवाड़ के वीरों के सहकारी राठौर और खीची वीरों की अनुकूलता से तथा उत्साह के साथ उनके सम्मलित होने से अज़ीमकी सेना को भयंकररूप से वीरवर दयालदास ने दलित करके अन्त में परास्त कर दिया,पराजित अज़ीम प्राण बचानें के लिये रणथम्भोर को भागा। परन्तु इस नगर में आने से पहिले ही उसकी बहुत हानि हुई थी। कारण कि विजयी राजपूतों ने उसका पीछा करके बहुत सी सेना को मार डाला। जिस अज़ीम ने पहले वर्ष चित्तौड़ नगरी का स्वामी बनकर अकस्मात् उसको अपने हाथ में कर लिया था, आज उसको उसका उचित फल दिया गया †।"

वीरवर दयालदास के सम्बन्ध का एक संस्कृत-लेख बड़ौदा के पास छाणी नामक ग्राम के जैन-मन्दिर में एक विशाल पाषाण प्रतिमा पर खुदा हुआ मिला है, जो कि मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित "प्राचीन जैन-लेख-संग्रह" द्वितीय भाग पृ० ३२६–२७ में उद्धृत हुआ है। जिसका भाव यह है कि संवत् १७३२ शाके १५८७ बैशाख शुक्ल सप्तमी को मेवाड़-नरेश राणा राजसिंह के मंत्री ओसवाल वंशीय सीसोदिया गोत्रोत्पन्न संघवी दयालदास ने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। इस शिलालेख में दयालदास के वंश-वृक्ष का इस प्रकार उल्लेख मिलता है :—

† टाड्राजस्थान द्वि०खं०अ० १३ पृ० २९७–९८।

संघवी श्रीतेजाजी
(भार्या नायकदे)
|
संघवी गजूजी
(भार्या गौरांदे)
|
संघवी राजाजी
(भार्या रयणदे)

सं० श्रीउदाजी	सं० डुदाजी	सं० देदाजी	सं० दयालदासजी
भार्या मालवदे	भा० १ दाडिमदे	भा० १ सिंहरदे	भा० १ सूर्यदे
	,, २ जगरूपदे	,, २ कर्मारदे	,, २ पाटमदे
सं० सुदरदासजी	सं० वपूजी	सं० सुरताणजी,	सं० सांवलदासज
भा० १ सोभागदे	भा० १ पारमदे	भा० सुणारमदे	भा० मृगादे
,, २ अमृतदे	,, २ वहुरंगदे		

श्री ओझाजी लिखते हैं :—

"दयालदास के पूर्व पुरुष सीसोदिये क्षत्रिय थे, परन्तु जब से उन्होंने जैन-धर्म स्वीकार किया, तब से उनकी गणना ओसवालों में हुई। इस के अतिरिक्त उसके पूर्व पुरुषों के सम्बन्ध में कोई वृत्तान्त नहीं मिलता।

दयालदास पहिले उदयपुर के एक ब्राह्मण पुरोहित के यहाँ नौकर था, उसकी उन्नति के बारे में यह प्रसिद्ध है कि महाराणा

राजसिंह की एक राणी ने जिससे कुँवर सरदारसिंह का जन्म हुआ था, ज्येष्ठ कुँवर सुलतानसिंह को मरवाने और अपने पुत्र को राज्य दिलाने का प्रपंच रचा। उसके शक दिलाने पर महाराणा ने कुँवर सुलतानसिंह को मारडाला। फिर उसी राणी ने महाराणा को विष दिलाने के लिये, उसी पुरोहित को, जिस के यहाँ दयालदास नौकर था, पत्र लिखा, जो उसने अपने कटार के खीसे में रख लिया। संयोग वश एक दिन किसी त्योहार के अवसर पर दयालदास ने अपने ससुराल देवाली नामक ग्राम में जाते समय रात्रि होजाने से पुरोहित से अपनी रक्षा के लिये कोई शस्त्र माँगा पुरोहित ने भूलकर वह कटार उसे दे दिया, जिसके खीसे में उपर्युक्त पत्र था। दयालदास कटार लेकर वहाँ से रवाना हुआ, घर जाने पर उस कटार के खीसे में कोई काग़ज़ होना दीख पड़ा और आश्चर्य के साथ वह उस काग़ज़ को निकाल कर पढ़ने लगा। जब उसे उस पत्र से महाराणा की जान का भय दीख पड़ा, तब उसने तत्काल महाराणा के पास पहुँच कर वह पत्र उसे बतलाया, इसपर उक्त महाराणा ने राणी और पुरोहित को मार डाला। जब इस घटना का हाल कुँवर सरदारसिंह ने सुना, तब उसने भी विष खाकर आत्मघात कर लिया।

दयालदास की उक्त सेवा से प्रसन्न होकर महाराणा ने उसे अपनी सेवा में रखा और बढ़ते बढ़ते वह उसका प्रधान (मंत्री) होगया। ... उसने राजसमन्द की पाल के समीप पर संगमर्मर का आदिनाथ का एक विशाल चतुर्मुख जैन-मन्दिर बड़ी लागत

वीरवर दयालदास का
बनवाया हुआ पर्वत के ऊपर किले नुमा जैन-मन्दिर

से बनवाया, जो उसकी कीर्ति का स्मारक है। उसका पुत्र सांवलदास हुआ, पीछे से इस वंश में कोई प्रसिद्ध पुरुष हुआ हो ऐसा पाया नहीं जाता †।

महात्मा टॉड साहब ने दयालदास के हस्ताक्षरों का राणा राजसिंह के एक आज्ञा-पत्र को अपने अंगरेजी राजस्थान जि० १ का अपंडिक्स नं ५ पृ० ६९६ और ६९७ में अंकित किया है जिसका हिन्दी अनुवाद बा० बनारसीदासजी एम.ए. एल-एल.बी. एम. आर. ए. एस. कृत जैन इतिहास सीरीज नं० १ पृ० ६६ से उद्धृत किया जाता है:—

आज्ञापत्र

महाराणा श्रीराजसिंह मेवाड़ के दश हजार ग्रामों के सरदार, मंत्री और पटेलों को आज्ञा देता है, सब अपने २ पद के अनुसार पढ़ें।

(१) प्रचीन काल से जैनियों के मन्दिर और स्थानों को अधिकार मिला हुआ है, इस कारण कोई मनुष्य उनकी सीमा (हद) में जीववध न करे, यह उनका पुराना हक़ है।

(२) जो जीव नर हो या मादा, वध होने के अभिप्राय से इनके स्थान से गुजरता है, वह अमर हो जाता है (अर्थात् उसका जीव बच जाता है).

---

† राजपूताने का इ० चौथा खं० पृ० १३०४–६।

(३) राजद्रोही, लुटेरे और कारागृह से भागे हुये महापराधी को जो जैनियों के उपासरे में शरण लें, राज-कर्मचारी नहीं पकड़ेंगे।

(४) फ़सल में कूँची (मुट्ठी), कराना की मुट्ठी, दान करी हुई भूमि धरती और अनेक नगरों में उनके बनाये हुये उपासरे क़ायम, रहेंगे।

(५) यह फरमान यति मान की प्रार्थना करने पर जारी किया गया है, जिसको १५ बीघे धान की भूमि के और २५ मलेटी के दान किये गये हैं। नीमच और निम्बहीर के प्रत्येक परगने में भी हरएक जाति को इतनी ही पृथ्वी दी गई है अर्थात् तीनों परगनों में धान के कुल ४५ बीघे और मलेटी के ७५ बीघे।

इस फरमान के देखते ही पृथ्वी नाप दी जाय और देदी जाय और कोई मनुष्य जातियों को दुःख नहीं दे, बल्कि उनके हक़ों की रक्षा करे। उस मनुष्य को धिक्कार है जो, उनके हकों को उलंघन करता है। हिन्दु को गौ और मुसलमान को सूअर और मुदारी की क़सम है।

(आज्ञा से)

संवत् १७४९ महा सुदी ५ वीं ईस्वी० सन् १६९३

शाह दयाल (मंत्री)

समरकेशरी दयालदास ने कितने युद्ध किये और वह कब वीर-गति को प्राप्त हुआ, इसका कोई पता नहीं चलता। राणा राजसिंह जैसे समर-विशारद, जिनका कि समस्त जीवन क्रूर और सबल बादशाह औरंगजेब से मोर्चा लेने में व्यतीत हुआ हो, तब उनका मन्त्री दयालदास भी कैसा पराक्रमकारी नीतिनिपुण और युद्ध-प्रिय होगा, सहज में ही अनुमान किया जा सकता है। महाराणा राजसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र जयसिंह गद्दी पर बैठे। औरंगजेब के पुत्र (अकबर द्वितीय) ने जब औरंगजेब के प्रति बग़ावत की थी, तब अकबर का पक्ष उदयपुर वालों ने लिया था। उस समय भी मंत्री दयालदास ने एक भयंकर युद्ध किया था †। ऐसे ही शूर-वीरों को लक्ष करके शायद वियोगीहरिजी ने लिखा है:—

खल-खण्डन मण्डन-सुजन, सरल, सुहृद, सविवेक।
गुण-गंभीर, रण-सूरमा, मिलतु लाख में एक॥

३० अक्टूबर सन् ३२

† राजपूताने का इ० ती० ख० पृष्ट ८९५।
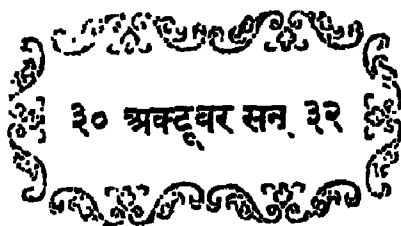
कोठारी भीमसी

जिनकी आंखनतें रहे वरसत ओज अंगार।
तिनके वंशज झेंपतें दृग झांपत सुकुमार॥
रहे रँगत रिपु रुधिर सों समर-केस निरवारि।
तिनके कुल अब हीजरे काढ़त मांग सँवारि॥

—वियोगीहरि

समय की गति वड़ी विचित्र है और प्रकृति के खेल भी बड़े अनूठे हैं। जो बात किसी के ध्यान में नहीं आती, जिस बात को लोग असम्भव समझते रहते हैं, वही समय पाकर सम्भव हो जाती है। संसार में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। सिंहों के बच्चे भेड़ों का आचरण करें, हंसों के वालक चील-कौओं के साथ खेलें, चातक और हारिल-वंश अपनी आन छोड़ें—यह असम्भव प्रतीत होता है, पर सब कुछ हो रहा है। उक्त पशु-पक्षियों की वात जाने दीजिये, उनमें विवेक नहीं, सम्भव है उन्हें अपने कुल की मान-मर्यादा याद न रहे, पर यहाँ तो उन महाजन-पुत्रों की ओर संकेत है जो विद्या-बुद्धि के ठेकेदार हैं।

वे अपनी मर्यादा को भूलकर महाजन की जगह वनिये वक्काल कहलाने लगे हैं। उनकी आँखों का पानी मारा गया है, न उनमें ग़ैरत है न स्वाभिमान, वे अपनी आँखों के सामने अपनी

बहन-बेटियों पर होते अत्याचार नित्यप्रति देखते हैं; किन्तु महसूस नहीं करते। वे स्वयं हर जगह और हर समय अपमानित होते हैं, पर वे इसकी तनिक भी पर्वाह नहीं करते †। उनके स्वाभिमान का नशा विलासिता-तुर्शी ने उतार दिया है।

न अब उनकी आँखों में गौरव का खुमार है और न मर्दानगी का लाल डोरा। वे जान बूझकर मर्द से शिखंडी बने हैं। मुख निस्तेज आँखें अन्दर घुसी हुई, पेट आगे निकला हुआ, नाक पर पत्थर की लालटैन लगी हुई, दान्त आवड़-खूबड़, पर पान से रंगीन, हाथ में पतली छड़ी, विदेशी वस्त्रों से ढके बने ठने महाजन पुत्रों की अब यही पहचान है ‡। जिन युवकों की ओर देश और समाज सतृष्ण दृष्टि से देख रहे हैं, वे युवक सुरमा, मिस्सी, कंघी,

---

† जला सब तेल दीया बुझ गया है अब जलेगा क्या।
बना जब पेड़ उकठा काठ तब फूले फलेगा क्या ॥१॥
रहा जिसमें न दम जिसके लहू पर पड़ा गया पाला।
उसे पिटना पछड़ना ठीकरें खाना खलेगा क्या ॥२॥
भले ही बेटियां-बहनें लुटें बरबाद हो बिगड़ें।
कलेजा जब कि पत्थर बन गया है तब गलेगा क्या ॥३॥

‡ नफ़ासत भरी है तबियत में उनकी।
नज़ाकत सी दाखिल है आदत में उनकी।
दवाओं में मुश्क उनकी उठता है ढेरों।
वह पोशाक में इत्र मलते हैं सेरों ॥
—"हाली"

चोटी, चटक-मटक में तल्लीन हैं; इश्तहार बाज़ों से प्रमेह-उपदंश आदि की दवाएँ ले रहे हैं। वे क्या हैं? देश के प्रति उनका क्या कर्तव्य है? इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। वे विलासिता के दास और जोरुओं के गुलाम बने हुये हैं। हर समय और हर घड़ी अपने सूखे और रूखे बदन को वेश्याओं की तरह सजाना, प्रेम कथा सुनना, हर वक्त किसी लैला पर मजनूं बने रहना, यही उनका धर्म और यही उनके जीवन का ध्येय बना हुआ है। जब चटक-मटक से ही अवकाश नहीं तब वे क्यों और कब वीरता का पाठ पढ़ें और मर्दों की सुहबत में बैठें—वे क्यों तलवार और लाठी के हाथ सीखें? वे तो अपने जी बहलाव के लिये, तबले बजाएँगे, नाटकों में पार्ट करेंगे, ज़नख़ों से अदायें सीखेंगे। दुनियाँ हँसती है हँसने दीजिये, लोग थूकते हैं थूकने दीजिये, कोई बकता है बकने दीजिये, देश रसातल को जारहा है जाने दीजिये, क़ौम मिटी जा रही है मिटने दीजिये। वे अपने रंग में भंग क्यों डालें? उनकी वही टेढ़ी माँग और वही लचकीली चाल रहेगी, दुनियाँ इधर से उधर होजाय, पर वे न बदलेंगे। और बदलें भी क्यों? काफ़ी बदल लिये, मर्द से जनाने और जनाने से शिखंडी महाजन से वैश्य, वैश्य से बनिये और बनिये से बक्काल हुये, क्या अब भी सन्तोष नहीं होता? बमुश्किल चैन मिला हैं, यह सुहावना लिबास अब उनसे न उतारा जायगा। उनके पुर्खा क्या थे? उन्हें सब मालूम है, उनकी तारीफ़ मत करो। एकदम लम्बे तडंगे, छाती चौड़ी, आँखें सुर्ख कलाई लोहे जैसी कठोर; न नज़ाकत न कोई अदा बात चीत

का शऊर नहीं, बज़्मे अदब में बैठने का सलीका नहीं क्षमा नाम मात्र को नहीं, एक दम उजड्ड, ज़रा किसी ने अपमान किया कि बिगड़ बैठे, बिचारे का माजना झाड़ दिया। अब वह ज़माना नहीं, यह बीसवीं सदी है। आज कल की बज़्मेअदब और इल्मेमजलिसी में जाने के लिये ही उन्होंने यह सब कुछ सीखा है।

यहाँ तो केवल इन छैल छबीले बने ठने महाजन पुत्रों के एक बुजुर्ग का—(जिन्हें यह उजड्ड और गँवार समझते हैं) उल्लेख किया जाता है संभव है भविष्य में इन मर्दनुमाँ औरतों का भी चरित्र-चित्रण इसी लेखनी को करना पड़े।

मान्य ओझाजी लिखते हैं:—"महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय से युद्ध करने के लिये, जब मुग़ल-सेना लेकर रणबाजखां मेवाड़ पर आया, तब महाराणा की ओरसे भी देवीसिंह मेघावत (बेंगू का) वगैरह कितने ही सरदार युद्ध-क्षेत्र में भेजे गये। ऐसी प्रसिद्धि है कि बेंगू का रावत देवीसिंह किसी कारण से युद्ध में न जा सका, इस लिये उसने अपने कोठारी भीमसी महाजन को अध्यक्षता में अपनी सैन्य भेजी। राजपूत सरदारों ने उपहास के तौर पर उससे कहा:—"कोठारीजी! यहाँ आटा नहीं तोलना है"। उत्तर में कोठारीजी ने कहा:—"मैं दोनों हाथों से आटा तोलूँ, उस वक्त देखना"। युद्ध के प्रारम्भ में ही उसने घोड़े की लगाम कमर से बान्ध ली और दोनों हाथों में तलवार लेकर कहा—"सरदारो! अब मेरा आटा तौलना देखो।" इतना कहते ही वह मेवातियों पर अपना घोड़ा दौड़ाकर दोनों हाथों से प्रहार करता हुआ आगे बढ़ा

और बड़ी वीरता-पूर्वक लड़कर मारा गया। उसके लड़ने के विषय का हमें एक प्राचीन गीत मिला है, जिससे पाया जाता है कि उसने कई शत्रुओं को मार कर वीर-गति प्राप्त की और अपना तथा अपने स्वामी का नाम उज्वल किया †"। मालूम होता है ऐसे ही वीर-रत्नों से प्रभावित होकर श्री वियोगी हरि जी ने लिखा है:—

> धन्य वैश्य-नर वीर जे मेलि रुण्ड रण-कुण्ड।
> खड्ग-तुला पै मत्त है, रखि तोल्ले खल-मुण्ड॥
> धन्य वनिक जो लै तुला, बैठ्यो समर-बज़ार।
> अरि-मुण्डन कौ धर्म सों, कियौ वनिज व्योपार॥

३१ अक्टूबर सन् ३२

† रा. पू. का. इ. ती. ख. पृ० ५५२।

भामाशाह की पुत्री का घराना
अथवा
कर्मचन्द वच्छावत का वर्तमान वंश

मेहता अगरचन्द

वच्छावतों के उत्थान और पतन का शोकोत्पादक साथ ही गौरवास्पद वर्णन पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक के जांगल (बीकानेर-राज्य) नामक खण्ड में मिलेगा, जब कर्मचन्द वच्छावत के पुत्र वीरता पूर्वक लड़ाई में मारे गये, तब कर्मचन्द की स्त्री अपने पुत्र भाण सहित उदयपुर में थी जिससे उसका वही पत्र बचने पाया। आगे मान्य ओझाजी लिखते हैं:—

"भाण† का पुत्र जीवराज, उसका लालचन्द और उस (लालचन्द) का प्रपौत्र पृथ्वीराज हुआ। उसके दो पुत्र अगरचन्द और हँसराज हुए, जो राज्य के बड़े पदों पर रहे। महाराणा अरिसिंह ने अगरचन्द को माँडलगढ़ का क़िलेदार तथा उक्त ज़िले का

† उदयपुर के मेहताओं की तवारीख़ में भाण को भोजराज का बेटा लिखा है। सम्भव है कि भोजराज या तो कर्मचन्द का तीसरा पुत्र हो या भागचन्द और लक्ष्मीचन्द में से किसी एक का पुत्र हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो, भमाशाह की पुत्री का विवाह भागचन्द या लक्ष्मीचन्द किसी एक के साथ होना मानना पड़ेगा।

हाकिम नियत किया । तब से माँडलगढ़ की क़िलेदारी उसके वंशजों में बराबर चली आ रही है । वह उक्त महाराणा का सलाहकार था और फिर मंत्री बनाया गया । महाराणा अरिसिंह (दूसरे) की उज्जैन की माधवराव सिंधया के साथ की लड़ाई में वह (अगरचन्द) लड़ा और घायल होने के बाद क़ैद हुआ परन्तु रूपाहेली के ठाकुर शिवसिंह के बावरी लोग उसको हिक-मत से निकाल लाये । जब माधवराव सिंधया ने उदयपुर पर घेरा डाला और लड़ाई शुरू हुई, उस समय महाराणा ने उसको अपने साथ रक्खा । टोपलमगरी और गंगार के पास की महापुरुषों के साथ की लड़ाईयों में भी वह महाराणा की सेना के साथ रह कर लड़ा ।

महाराणा हमीरसिंह (दूसरे) के समय की मेवाड़ की विकट स्थिति सम्भालने में वह बड़वा अमरचन्द का सहायक रहा । जब शक्तावतों और चूंडावतों के झगड़ों के बाद आंबाजी इंगलिया की आज्ञानुसार उसके नायब गणेशपन्त ने शक्तावतों का पक्ष करना छोड़ दिया और प्रधान सतीदास तथा सोमचन्द गान्धी का पुत्र जयचन्द क़ैद कर लिए गये, उस समय महाराणा भीमसिंह ने फिर अगरचन्द मेहता को अपना प्रधान बनाया । जब सिन्धिया के सैनिक लकवा दादा और आंबाजी इंगलिया प्रतिनिधि गणेश-पन्त के बीच मेवाड़ में लड़ाइयाँ हुईं और उस गणेशपन्त ने भागकर शरण ली, तो लकवा उसका पीछा करता हुआ वहाँ भी जा पहुँचा । लकवा की सहायता के लिए महाराणा ने कई सर-

दारों को भेजा, जिनके साथ अगरचन्द भी था।

वि० सं० १८५७ (ई० स० १८००) के पौष महीने में मांडलगढ़ में अगरचन्द का देहान्त हुआ। महाराणा अरिसिंह (दूसरे) के समय से लगाकर महाराणा भीमसिंह तक उसने स्वामिभक्त रह कर उदयपुर-राज्य की बहुत कुछ सेवा की, और कई लड़ाइयों में वह लड़ा। उसने अपने अन्तिम समय अपने वंशजों के लिये राज्य की सेवा में रहते हुए किस प्रकार रहना, क्या करना, और क्या न करना, इत्यादि के सम्बन्ध में जो उपदेश लिखवाया है, वह वास्तव में उसकी दूर-दर्शिता, सच्ची स्वामीभक्ति और प्रकाण्ड अनुभव का सूचक है ‡।

महता अगरचन्द के पुत्र देवीचन्द ने अपने रहने के लिये एक महल बनवा लिया था। यह बात मेहता अगरचन्द को बुरी लगी, उसे भय हुआ कि कहीं मेरा पत्र महलों में रहकर आरामतलब न हो जाय! योद्धा की ऐशो-आराम में पड़ने से वही गति होती है, जो आग में पड़ने से घी की। अतएव मेहता अगरचंद ने तत्काल अपने पुत्र को एक उपदेश पूर्ण पत्र लिखा जिसका आशय यही था कि "पुत्र! सच्चे शूरवीर तो रणस्थल में क्रीड़ा किया करते हैं और वहीं शयन करते हैं, फिर तुमने यह विपरीत पथ क्यों स्वीकार किया? क्या तुम्हारे हृदय में अपने पूर्वजों की भांति जीने और मरने की हविस नहीं है। यदि अपने पूर्वजों का अनुकरण करना और मेवाड़ की प्रतिष्ठा चाहते हो, तो इस

‡ राजपूताने का इ. चौथा खण्ड पृष्ठ १३.१४-१५

महल को छोड़ कर ज़ीन पर सोना और घोड़े की पीठ पर बैठे ही बैठे रोटी खाना सीखो, तब कहीं अपनी कीर्ति रख सकोगे। हमारे पुरुषाओं का यह पुराना रिवाज रहा है।"

युवराज अमरसिंह की भी ऐसी ही एक बात देख कर राणा प्रताप दुखी थे। इस घटना को लेकर जून सन् १९२९ में एक कहानी लिखी थी। यद्यपि उस कहानी में वर्णित व्यक्ति जैन न होने से प्रस्तुत पुस्तक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी शिक्षाप्रद और प्रसंगवश उस कहानी को यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

सेवक का कर्तव्य

मेवाड़-केसरी महाराणा प्रताप मौत के शिकंजे में जकड़े हुये थे। वह लोहे के कटघरे में फसे हुये शेर की भान्ति रुग्ण-शैय्या पर पड़े हुये छटपटा रहे थे। अस्फुट वेदना के चिन्ह उनके मुख से भली भान्ति प्रगट हो रहे थे। आँखों के कोने में छुपे हुये आँसू मौन-वेदना का सन्देश दे रहे थे। वीर-चूड़ामणि महाराणा प्रताप ने पूर्वजों की बनाई हुई गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को छोड़ कर पीछोला सरोवर के किनारे पर कई एक झोपड़ियाँ बनवाई थीं। उन्हीं कुटियों में अपने समस्त सरदारों के साथ राणाजी अपना राजर्षि-जीवन व्यतीत करते थे। आज अन्तकाल के समय भी उन्हीं में से एक साधारण कुटी में रुग्ण-शैय्या पर लेटे हुये क्रूर-काल की बाट जोह रहे थे। इतने में ही प्रचण्ड-वेग से शरीर को कम्पायमान करती हुई एक साँस राणाजी के मुँह से निकली। समीप में बैठे हुये उनके जीवन के सखा, मेवाड़ के सामन्त और सरदार उनकी इस मर्मान्तिक वेदना को देख कर कांप उठे। शालुम्ब्रा-सरदार कातर होकर रुधे हुये स्वर से बोले "अन्नदाता"! इस अन्तिम समय में आपको ऐसी क्या चिंता है? किस दारुण दुख के कारण आप छटापटा रहे हैं! आपका यह दीर्घ निश्वास हमारे हृदय में तीर की तरह लगा है। यदि कोई अभिलाषा है, तो कृपा करके कहिये, हम सब आपकी इस अंतिम इच्छा को जीवन के अन्त समय तक अवश्य पूर्ण करेंगे।"

मेवाड़ का वह टिमटिमाता हुआ दीपक शालुम्ब्रा सरदार के आश्वासन रूपी तेल को पाकर फिर प्रज्वलित हो उठा। महाराणा प्रताप अपने शरीर की पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े कष्ट से बोले:— "प्यारे सखा! पूछते हो मुझ से, क्या कष्ट है? मेरे भोले सरदार! इतने भोलेपन का प्रश्न! मेरी मातृ-भूमि चित्तौड़ जो मेरे पूर्वजों की क्रीड़ास्थली थी। जिसके लिये मुस्कराते हुये उन्होंने अपने प्राणों की आहुतियाँ दी। उसे मैं यवनों के चंगुल से नहीं छुड़ा सका, मैं अपने प्यारे देशवासियों को चितौड़ की पवित्र-भूमि पर स्वतंत्र विचरते हुये न देख सका; यह क्या कम कष्ट है! यही दारुण-वेदना मेरे प्राणों को रोके हुये है।"

शालुम्ब्रा-सरदार मस्तक झुकाकर बोले—"श्रीमान् आपकी यह पवित्र अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करके एकाग्रचित्त से भगवान् का स्मरण करिये......"

शालुम्ब्रा-सरदार के वाक्य पूर्ण होने तक महाराणा प्रताप का विवाद पूर्ण पीला मुँह गम्भीर हो गया, वह बीच में ही बात काट कर बोले:—

"ओह! शालुम्ब्रा-सरदार मुझे वाक्य-पटुता में न फंसाओ। मुझे इस समय धर्मोपदेश की आवश्यकता नहीं। देश परतंत्र रहे और मैं इस अन्त समय में भगवान् का स्मर्ण करके परलोक सुधारूं? छिः कैसी वाक्य-विडम्बना है! मेरे मित्र! याद रक्खो; जो इस लोक में परतंत्र हैं, वह परलोक में भी परतंत्र रहेंगे। जो व्यक्ति अपने देशवासियों को दुख-सागर में बिलखते देखकर अकेला

मोक्ष जाना चाहता है, वह न तो मोक्ष पहुँचता है न पहुंच ही सकता है। त्रिशंकु की तरह उसको बीच में ही लटकना पड़ता है। यदि मेरे नर्क में रहने से भी मेरा देश स्वतंत्र हो सकता है, तो मैं नर्क की दुःसह वेदना सहन करने को प्रस्तुत हूँ। बोलो, बोलो क्या कहते हो, शपथ करो कि इन विदेशियों का विध्वन्स करके मातृ-भूमि को स्वतंत्र कर देंगे।"

सामन्त और सरदार व्यग्र हो उठे, राणाजी की यह अभिलाषा क्योंकर पूर्ण होगी? जीवन भर लड़ते हुये भी जिसे अपना न कर सके, उसे अब कैसे स्वतंत्र कर सकेंगे? तब भी सन्तोष के लिये आश्वासन देते हुये बोले:-"भारत-सम्राट्! आपकी यह अभिलाषा वीरोचित है। आप विश्वास रखिये श्री बापजी राव (युवराज अमरसिंह) आपकी इस अंतिम कामना को श्री एकलिंग जी की कृपा से अवश्य पूर्ण करेंगे।"

वीर-शिरोमणि महाराणा प्रताप चुटीले सांप की तरह फुंफकार कर बोले:—"अमर चितौड़ को तो क्या स्वतंत्र करेगा? वह रहे सहे मेवाड़ के गौरव को भी खो बैठेगा। उसके आगे मेवाड़ की पवित्र भूमि मलेच्छों के पाद-प्रहार से कुचली जायगी।"

समस्त सरदार एक स्वर से बोल उठे "अन्न दाता! ऐसा कभी न होगा।"

दीप निर्वाण होने के पूर्व एक बार प्रज्वलित हो उठता है। उसी प्रकार राणाजी शक्ति न रखते हुये भी आवेश में कहने लगे:-"मैं कहता हूँ ऐसा अवश्य होगा। युवराज अमरसिंह हमारे पितृ

पुरुषों के गौरव की रक्षा नहीं कर सकेगा। वह यवनों से युद्ध न करके मेवाड़ की कीर्ति रूपी स्वच्छ चादर पर विलासिता का स्याह धब्बा लगा देगा ......"

कहते कहते उनका गला रुंध गया, सरदार के दो घूंट पानी पिलाने के पश्चात् वह क्षीण स्वर से बोले:—"एक समय कुमार अमरसिंह उस नीची कुटी में प्रवेश करने के समय सिर की पगड़ी उतारना भूल गया था। इस कारण सिर की पगड़ी द्वार के निकले हुये बाँस में लगकर नीचे गिर पड़ी। अमरसिंह ने इसको कुछ भी न समझा और दूसरे दिन मुझ से कहा कि "यहाँ पर बड़े र महल बनवा दीजिये !"

युवराज अमरसिंह की बाल्यकाल की गाथा कहते हुये राणाजी का पीतमुख और भी गम्भीर होगया उन्होंने फिर एक लम्बी सांस ली और कहा—"इन कुटियों के बदले यहाँ रमणीय महल बनेंगे। मेवाड़ की दुरावस्था भूलकर "अमर" यहाँ पर अनेक प्रकार के भोग-विलास करेगा। उससे इस कठोर व्रतका पालन नहीं होगा ? हा ! अमरसिंह के विलासी होने पर वह गौरव और मातृभूमि की वह स्वाधीनता भी जाती रहेगी; जिसके लिये मैंने बराबर २५ वर्ष तक वन और पर्वत पर्वत पर घूमकर वनवासका कठोर व्रत धारण किया। जिसको अचल रखनेके लिये सब भांति की सुख-सम्पत्ति को छोड़ा। शोकहै कि अमरसिंह से इस गौरव की रक्षा न होगी। वह अपने सुखके लिये उस स्वाधीनता के गौरवको छोड़ देगा और तुम लोग, सब उसके अनर्थकारी उदाहरण का अनुसरण करके

मेवाड़ के पवित्र और श्वेतयश में कलंक लगा दोगे।"

महाराणा का वाक्य पूरा होते ही समस्त सरदार मिलकर बोले:—
क्षमा-अन्नदाता, महाराज ! हम लोग वप्पारावल के पवित्र सिंहासन की शपथ खाकर कहते हैं कि "जब तक हममें से एक भी जीवित रहेगा, उस दिन तक कोई तुरक मेवाड़ की भूमि पर अधिकार नहीं पा सकेगा। जब तक मेवाड़-भूमि की स्वाधीनता पूर्ण भाव से प्राप्त न कर लेंगे, तब तक इन्हीं कुटियों में हम लोग रहेंगे।"

सरदारों की वीरोचित शपथ सुनकर हिन्दु-कुल-भूषण वीर-चूड़ामणि राणा प्रताप के नयन झरोखों से आनंदाश्रु झलकने लगे। वह नेत्र विस्फारित करके मुस्कराते हुये "भारत माता की जय" "मेवाड़ भूमि की जय" इतना ही कह पाये थे, कि उनकी आत्मा स्वर्गासीन हो गई। मेवाड़वासी दहाड़ मारकर रोने लगे, मेवाड़ अनाथ हो गया।

× × ×

वीर-केसरी प्रताप के स्वर्गासीन होने पर युवराज अमरसिंह को राघववंशीय सूर्यकुल-भूषण वप्पारावल के पवित्र सिंहासन पर बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराणा अमरसिंह में असाधारण गुण थे। उन्होंने अपने शासन-काल में मेवाड़ में कई आदर्श सुधार किये। किन्तु, स्वेच्छाचारिता और विलासिता दो ऐसे अवगुण हैं, जो मनुष्य के अन्य उत्तम गुणों पर भी पर्दा डाल देते हैं। दुर्भाग्य से राणा अमरसिंह भी प्लेग, हैजे के समान उड़कर लगने वाली विलासिता रूपी बीमारी से न बच सके। वे

दिन-रात आमोद-प्रमोद में रहने लगे। उनके पूर्वज क्या थे? इस समय मातृ-भूमि कैसे संकट में है, भारतीय आर्य ललनाओं की कैसी दुरावस्था है? इस बात की न तो उन्हें कुछ खबर ही थी, और न कुछ चिन्ता। वे दिन-रात महलों में पड़े हुये चापलूसों के साथ अनेक क्रीड़ा किया करते। जो झूठ बोलने में, बात बनाने में, मायाचारी करने में जितना सिद्धहस्त होता, वही उनका प्रेम-पात्र बन सकता था। सच्चे देश-भक्त, वीर, और आन पर मर मिटने वाले उनके यहाँ घमण्डी और पागल समझे जाने लगे। संसार में क्या हो रहा है, इसकी उनको तनिक भी पर्वाह नहीं थी। ऐसे ही दुर्दिनों में उचित अवसर जान जहाँगीर ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। मातृ-भूमि पर संकट आया देख, कुछ वीर-सैनिकों का हृदय धक-धक करने लगा। उनके नेत्रों के सामने भविष्य में आने वाले संकट बाइस्कोप के चित्र के समान मूर्ति बन कर नाचने लगे। ऐसे संकट के समय भी राणाजी विलासिता में डूबे हुये, अपने चापलूस मित्रों के साथ अमोद-प्रमोद में मस्त हैं, मेवाड़-रक्षक आज भी कायरों की भांति जनाने में घुसे हुये हैं। इन्हीं बातों को देखकर वह मुट्ठीभर राजपूत विकल हो उठे। उनकी हृदय-तन्त्री कर्तव्य-पालन करने के लिये बार२ प्रेरित करने लगी। शालुम्ब्रा सरदार वीर चुण्डावत को राणा प्रताप की कही हुई बात इस समय बिल्कुल ठीक जँचने लगी। इसी समय उसे अकस्मात प्रताप के सामने की हुई प्रतिज्ञा याद हो आई। वह मेवाड़के वीर-सैनिकोंकी एक टोली बनाकर राणाजीके महलों

में जा पहुँचे। चुण्डावत सरदार की उग्र मूर्ति देखकर राणाजी सहम गये, तब भी वे हँस कर बोले:—"कहिये शालुम्ब्रा सरदार! इस समय कैसे पधारे?" राणा अमरसिंह के इस व्यंग भरे प्रश्न से चुण्डावत सरदार कुछ कट से गये, वह कड़क कर बोले:—

देश पर आपत्ति की घनघोर घटा छाई हुई है, यवनेश अपनी असंख्य सेना लेकर मेवाड़ पर चढ़ आया है; फिर भी आप पूछते हैं कि "इस समय कैसे पधारे?" विजेताओं के अत्याचार से लाखों युवतियाँ विधवा हो जायँगी, उनका बलपूर्वक शील नष्ट किया जायगा। हमारे धार्मिक मन्दिर पृथ्वी में समतल कर दिये जाँयगें। मेवाड़ की कीर्ति लुप्त हो जायगी। सब कुछ जानते हुये भी मेवाड़-नरेश! यह अनभिज्ञता कैसी"?

चुण्डावत-सरदार के यह मर्मान्तक वाक्य राणाजी के हृदय में लगे तो, किन्तु व्यर्थ! उनकी काम-वासना ने, विद्वता, वीरता, स्वाभिमान, मनुष्यता सभी पर पर्दा डाल रक्खा था। वे सरदार को टालने की गरज से बोले:—"तब मैं क्या करूँ"?

"आप क्या करें! राणा संग्रामसिंह ने क्या किया था? राणा लक्ष्मणसिंह के बारह पुत्रों ने क्या किया था? वीर जयमल और पत्ते ने क्या किया था? और आपके यशस्वी पिता ने क्या किया था? जो उन्होंने किया वही आप कीजिये। जिस पथ का अवलम्बन उन्होंने किया, उसी का अनुसरण आप भी कीजिये"।

"मैं व्यर्थ का रक्त-पात करके अपने हाथों को कलंकित नहीं करना चाहता"।

"अच्छा आप रक्त-पात न कीजिये, परन्तु अपना रक्त ही बहाइये"।

"इसका तात्पर्य्य"!

"यही कि आपकी विलासिता और अकर्मण्यता से जो मेवाड़वासी अनुत्साही होगये हैं—उनके हृदय की वीरता शुष्क हो गई है—वह आपके रक्त-संचार से फिर हरे भरे हो जाँयगे"!

"तो क्या मैं मर जाऊँ"?

"हाँ जो युद्ध नहीं करना चाहता—अहिंसक है—वह मात्र-भूमि के ऋण से उऋण होने के लिये स्वयं उसकी वेदी पर बलि हो जाय"।

"कोई आवश्यकता नहीं, चुण्डावत सरदार! इस समय तुम यहाँ से चले जाओ"।

"मैं नहीं जासकता, इतना कहकर क्रोध में भरे हुये चुण्डावत सरदार ने सामने लगे हुये बिल्लोरी आइने को पत्थर मार कर तोड़ डाला और सैनकों को आज्ञा दी कि कर्तव्य-विमुख राणाजी को घोड़े पर बिठाओ! आज हम फिर एकबार लोहा बजाकर अपनी मात्र-भूमि का मुख उज्ज्वल करेंगे! राणा प्रताप के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा आज सार्थक करेंगे"।

सैनिकों ने राणाजी को बलपूर्वक घोड़े पर बिठा दिया। राणा जी क्रोध के आवेश में चण्डावत सरदार को राजद्रोही, विश्वास-घाती, उद्दण्ड, आदि अनेक उपाधियाँ वितरण करने लगे। सैनिकों और सरदारों का इस ओर ध्यान ही नहीं था। वे सब बड़े चाव

से भूमते हुये राणाजी को घेरे हुये रण-क्षेत्र की ओर चल दिये। मार्ग में चलते हुये राणाजी की मोह निद्रा दूर हुई। उन्हें चुण्डावत सरदार का यह कार्य उचित जान पड़ा। उन्हें अपनी अकर्मण्यता पर पश्चाताप होने लगा। वे सरदार को सम्बोधन करके बोले:—'शालुम्ब्रा सरदार! वास्तव में आज तुमने वह वीरोचित कार्य किया है, जिसकी याद सदैव बनी रहेगी। तुमने मुझे विलासिता के अँधेरे कूप में से निकाल कर मेवाड़ का मुख उज्वल किया है। इसके लिये मेवाड़ तुम्हारा कृतज्ञ रहेगा। अब तुम देखोगे, प्रताप का पुत्र, बप्पारावल का वंशधर कहलाने योग्य है अथवा नहीं? आज रण क्षेत्र में इसकी परीक्षा होगी"

शालुम्ब्रा सरदार हाथ जोड़ कर बोले—"राणाजी! यदि कुछ अपराध हुआ है तो क्षमा कीजिये। स्वामी को कुपथ से निकाल कर सुमार्ग पर लाना सेवक का कर्तव्य है, मैंने कोई नया कार्य नहीं किया; केवल सेवक ने अपना कर्तव्य-पालन किया है"।

\+ + ×

राणा अमरसिंह अपने वीर सैनिकों को लेकर जहाँगीर की सेना पर बाज की तरह झपट पड़े और अपने अतुल पराक्रम द्वारा जहाँगीर का मान मर्दन कर दिया। थोड़े दिनों बाद अमरसिंह ने चित्तौड़गढ़ को मुग़ल बादशाह की पराधीनता से मुक्त कर लिया। इस प्रकार राणा प्रताप की अंतिम अभिलाषा पूर्ण हुई।

१ जून सन् १९२९

मेहता देवीचन्द

"अगरचन्द के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र देवीचन्द मंत्री बना और जहाज़पुर का क़िला उसके अधिकार में रखा गया। थोड़े ही दिनों पीछे देवीचन्द के स्थान पर मौजीराम प्रधान बनाया गया और उसके पीछे सतीदास। उन दिनों आंबाजी इंगलिया का भाई बालेराव शक्तावतों तथा सतीदास प्रधान से मिलगया और उसने महाराणा के भूतपूर्व मंत्री देवीचन्द को चूंडावतों का तरफ़दार समझ कर क़ैद करलिया, परन्तु थोड़ेही दिनों में महाराणा ने उस को छुड़ा लिया। झाला ज़ालिमसिंह ने बालेराव आदि को महाराणा की क़ैद से छुड़ाने के लिये मेवाड़ पर चढ़ाई की, जिसके ख़र्च में उसने जहाज़पुर का परगना अपने अधिकार में कर लिया और मेवाड़ का क़िला भी वह अपने हस्तगत करना चाहता था। महाराणा (भीमसिंह) ने उसके दबाव में आकर मांडलगढ़ का क़िला उसके नाम लिखा तो दिया, परन्तु तुरन्त ही एक सवार को ढाल तलवार देकर मेहता देवीचन्द के पास मांडलगढ़ भेजदिया। देवीचन्द ने ढाल तलवार अपने पास भेजे जाने से अनुमान करलिया कि महाराणा ने ज़ालिमसिंह के दबाव में आकर मांडलगढ़ का क़िला उस (ज़ालिमसिंह) को सौंपने की आज्ञा दी है, परन्तु ढाल और तलवार भेजकर मुझे लड़ाई करने का आदेश दिया है। इस पर उसने क़िले की रक्षा का प्रबन्ध कर लिया और वह लड़ने को सज्जित हो गया। जिससे जालिमसिंह की अभिलाषा पूरी न हो सकी। कर्नल टॉड ने उदयपुर जाकर राज्य-व्यवस्था ठीक की, उस

समय देवीचन्द पुनः प्रधान बनाया गया, परन्तु उसने शीघ्र ही इस्तीफा दे दिया, क्योंकि उस दुहरी हुकूमत से प्रबन्ध में गड़बड़ी होती थी ‡।"

मेहता शेरसिंह—

अगरचन्द के तीसरे पुत्र सीताराम का बेटा शेरसिंह हुआ। महाराणा जवानसिंह के समय सरकार इंग्रेजी खिराज के रु० ७००००० चढ़ गये, जिससे महाराणा ने मेहता रामसिंह के स्थान पर मेहता शेरसिंह को अपना प्रधान बनाया। शेरसिंह इमानदार और सच्चा तो अवश्य बतलाया जाता था, परन्तु वैसा प्रबन्ध-कुशल नहीं था; जिससे थोड़े ही दिनों में राज्य पर कर्जा पहले से अधिक हो गया, अतएव महाराणा ने एक ही वर्ष बाद उसे अलग कर रामसिंह को पीछे प्रधान बनाया। वि० स० १८८८ (ई० स० १८३१) में शेरसिंह को फिर दुबारा प्रधान बनाया। महाराणा सरदारसिंह ने गद्दी पर बैठते ही मेहता शेरसिंह को क़ैद कर मेहता रामसिंह को प्रधान बनाया। शेरसिंह पर यह दोषारोपण किया गया कि महाराणा जवानसिंह के पीछे वह (शेरसिंह) महाराणा सरदारसिंह के पुत्र के छोटे भाई शार्दूलसिंह को महाराणा बनाना चाहता था। क़ैद की हालत में शेरसिंह पर जब सख्ती होने लगी तो पोलिटिकिल एजेण्ट ने महाराणा से उसकी सिफ़ारिश की, किन्तु उसके विरोधियों ने महाराणा को फिर बहकाया कि सरकार इंग्रेजी की हिमायत से

‡ राजपूताने का इ० चौ० भा० पृ० १२१५–१६।

वह आपको डराना चाहता है। अन्त में दस लाख रुपये देने का वायदा कर वह (शेरसिंह) क़ैद से मुक्त हुआ, परन्तु उसके शत्रु उसे मरवा डालने के उद्योग में लगे, जिस से अपने प्राणों का भय जानकर वह मारवाड़ की ओर भाग गया।

जब महाराणा सरूपसिंह को राज्य की आमद-ख़र्च का ठीक प्रबन्ध करने का विचार हुआ, और प्रीतिभाजन प्रधान रामसिंह पर अविश्वास हुआ, तब उसने मेहता शेरसिंह को मारवाड़ से बुलाकर वि० सं० १९०१ (ई० स० १८४४) में उसको फिर अपना प्रधान बनाया। महाराणा अपने सरदारों की छटूंद चाकरी का मामला तै करना चाहता था, इस लिये उसने मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट कर्नल रॉबिन्सन से संवत् १९०१ में एक नया कौलनामा तैयार करवाया, जिस पर कई उमरावों ने दस्तख़त किये। महाराणा की आज्ञा से मेहता शेरसिंह ने भी उस पर हस्ताक्षर किये।

प्रधान का पद मिलते ही उसने महाराणा की इच्छानुसार राज्य-कार्य में सुव्यवस्था की और कर्जदारों के भी, महाराणा की मर्ज़ी के मुआफ़िक़ फ़ैसले कराने में उसने बड़ा प्रयत्न किया।

लावे (सरदारगढ़) के दुर्ग पर महाराणा भीमसिंह के समय से शक्तावतों ने डोडियों से क़िला छीन कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया था। महाराणा सरूपसिंह के समय वहाँ के शक्तावत रावत चतरसिंह के काका सालिमसिंह ने राठौड़ मानसिंह को मार डाला, तो उक्त महाराणा ने उसका कुदेई गाँव ज़ब्त

कर, चतरसिंह को आज्ञा दी कि वह सालिमसिंह को गिरफ़्तार करे। चतरसिंह ने महाराणा के हुक्म की तामील न कर सालिम-सिंह को पनाह दी, इस पर महाराणा ने वि० सं० १९०४ (ई० सन् १८४७) में शेरसिंह के दूसरे पुत्र जालिमसिंह ‡ को ससैन्य लावे पर अधिकार करने को भेजा, उसने लावे के गढ़ पर हमला किया, किन्तु राज्य के ५०–६० सैनिक मारे जाने पर भी गढ़ की मज़बूती के कारण वह टूट नहीं सका। तब महाराणा ने प्रधान शेरसिंह को वहाँ पर भेजा। उसने लावे पर अधिकार कर लिया और चतरसिंह को लाकर महाराणा के सम्मुख प्रस्तुत किया। महाराणा ने शेरसिंह की सेवा से प्रसन्न हो पुरस्कार में क़ीमती ख़िलअत, सीख के वक़्त बीड़ा देने और ताज़ीम की इज़्ज़त प्रदान करना चाहा, परन्तु उस शेरसिंह ने खिलअत और बीड़ा लेना तो स्वीकार किया और ताज़ीम के लिये इन्कार किया!

जब महाराणा सरूपसिंह ने सरूपसाही रुपया बनाने का विचार किया, उस समय महाराणा की आज्ञानुसार शेरसिंह ने कर्नल ऐबिन्सन से लिखा पढ़ी कर गवर्नमेन्ट की स्वीकृति प्राप्त करली, जिससे सरूपसाही रुपया बनने लगा।

‡ जालिमसिंह मेहता अगरचन्द के दूसरे पुत्र उदयराम के गोद रहा, परन्तु उसके भी कोई पुत्र न था, इस लिये उसने मेहता पन्नालाल के तीसरे भाई तख़्तसिंह को गोद लिया। तख़्तसिंह गिर्वा व कवासनके प्रान्तों पर हाकिम रहा तथा महकमा देवस्थान का प्रबन्ध भी कई वर्षों तक उसके सुपुर्द रहा। महाराणा सज्जनसिंह ने उसे इजलास ख़ास महद्राज सभा का सदस्य बनाया। वह सरल प्रकृति का कार्य-कुशल व्यक्ति था।

वि० सं० १९०७ (ई० स० १८५०) में बीलख आदि की पालों के भीलों और वि० सं० १९१२ (ई० स० १८५५) में पश्चिमी प्रान्त के काली वास आदि के भीलों को सजा देने के लिये शेर-सिंह का ज्येष्ठ पुत्र मेहता सवाईसिंह भेजा गया, जिसने उनको सख्त सज़ा देकर सीधा किया।

वि० सं० १९०८ लुहारी के मीनों ने सरकारी डाक लूट ली, जिसकी गवर्नमेन्ट की तरफ़ से शिकायत होने पर महाराणा सरूपसिंह ने उनका दमन करने के लिये मेहता शेरसिंह के पौत्र (सवाईसिंह के पुत्र) अजीतसिंह को, जो उस समय जहाजपुर का हाकिम था, भेजा और उसकी सहायता के लिये जालंधरी के सरदार अमरसिंह शक्तावत को भेजा। अजीतसिंह ने धावा कर छोटी और बड़ी लुहारी पर अधिकार कर लिया। मीने भाग कर मनोहरगढ़ तथा देवका खेड़ा की पहाड़ी में जा छिपे, पर उनका पीछा करता हुआ, वह भी वहाँ जा पहुँचा। मीनों की सहायता के लिये जयपुर, टोंक और बून्दी इलाक़ों के ४-५ हज़ार मीने भी वहाँ आ पहुँचे। उनके साथ की लड़ाई में कुछ राजपूत मारे गये और कई घायल हुये, जिससे महाराणा ने अपने प्रधान मेहता शेरसिंह को अलग कर उसके स्थान पर मेहता गोकुलचन्द को नियत किया, परन्तु सिपाही-विद्रोह के समय नीमच की सरकारी सेना ने भी बाग़ी होकर छावनी जलादी और खजाना लूट लिया। डा० मरे आदि कई अंग्रेज़ यहाँ से भागकर मेवाड़ के सुन्दा गाँव में पहुँचे। वहाँ भी बाग़ियों ने उनका पीछा किया। कप्तान शावर्स

ने यह खबर पाते ही महाराणा की सेना सहित नीमच की तरफ़ प्रस्थान किया। महाराणा ने अपने कई सरदारों को भी उक्त कप्तान के साथ करदिया। इतनाही नहीं, किन्तु ऐसे नाजुक समय में कार्यकुशल मंत्री का साथ रहना उचित समझ कर महाराणा ने उस शेरसिंह को प्रधान की हैसियत से उक्त पोलिटिकिल एजेंट के साथ कर दिया और जब तक विद्रोह शान्त न हुआ, तब तक वह उसके साथ रहकर उसे सहायता देता रहा।

नींबाहेड़े के मुसलमान अफ़सर के बागियों से मिल जाने की खबर सुन कर कप्तान शावर्स ने मेवाड़ी सेना के साथ वहाँ पर चढ़ाई की, जिसमें मेहता शेरसिंह अपने पुत्र सवाईसिंह सहित शामिल था। जब नींबाहेड़े पर कप्तान शावर्स ने अधिकार कर लिया, तब वह (शेरसिंह) सरदारों की जमीयत सहित वहाँ के प्रबन्ध के लिये नियत किया गया।

महाराणा ने शेरसिंह को पहले ही अलग तो कर दिया था, अब उससे भारी जुर्माना भी लेना चाहा। इसकी सूचना पाने पर राजपूताने का एजेएट जनरल (जॉर्ज लारेन्स) वि० सं० १९१७ मार्गशीर्ष वदि ३ (ई०स० १८६० ता० १ दिसम्बर) को उदयपुर पहुँचा और शेरसिंह के घर जाकर उसने उसको तसल्ली दी। जब महाराणा ने शेरसिंह के विषय में उस (लारेन्स) से चर्चा की, तब उसने उस (महाराणा) की इच्छा के विरुद्ध उत्तर दिया। उसी तरह मेवाड़ के पोलिटिकिल एजेन्ट मेजर टेलर ने भी शेरसिंह से जुर्माना लेने का विरोध किया। इससे महाराणा और पोलिटि-

किल अफसरों में मनमुटाव होगया, जो दिनों दिन बढ़ता ही गया। महाराणा ने शेरसिंह की जागीर भी ज़ब्त करली, परन्तु फिर पोलिटिकिल अफ़सरों की सलाह के अनुसार वह महाराणा शम्भुसिंह के समय उसे पीछी देदी गई।

महाराणा सरूपसिंह के पीछे महाराणा शम्भुसिंह के नाबालिग़ होने के कारण राज्य-प्रबन्ध के लिये मेवाड़ के पोलिटिकिल एजेण्ट मेजर टेलर की अध्यक्षता में रीजेन्सी कौंसिल स्थापित हुई, जिस का एक सदस्य शेरसिंह भी था।

महाराणा सरूपसिंह के समय मेहता शेरसिंह से जो तीन लाख रुपये दण्ड के लिये गये थे, वे इस कौंसिल के समय उस (शेरसिंह) की इच्छा के विरुद्ध उसके पुत्र सवाईसिंह ने राज्य खजाने से पीछे ले लिये। इस के कुछ ही वर्ष बाद मेहता शेरसिंह के जिम्मे चित्तौड़ जिले की सरकारी रक़म बाक़ी होने की शिकायत हुई। वह सरकारी रक़म जमा नहीं करा सका और जब ज्यादा तक़ाजा हुआ, तब सलूंबर के रावत की हवेली में जा बैठा, जहाँ पर उसकी मृत्यु हुई। राज्य की बाक़ी रही हुई रक़म की वसूली के लिये उसकी जागीर राज्य के अधिकार में ले ली गई। शेरसिंह का ज्येष्ठ पुत्र सवाईसिंह उसकी विद्यमानता में ही मर गया। तब, अजीतसिंह उसके गोद गया, पर वह निःसन्तान रहा जिससे मांडलगढ़ से चतरसिंह उसके गोद गया, जो कई वर्षों तक माँडलगढ़, राशमी, कपासन और कुम्भलगढ़ आदि जिलों का हाकिम रहा। उसका पुत्र संग्रामसिंह इस समय महद्राज सभा का

असिस्टैंट सेक्रेटरी है †।"

मेहता गोकुलचन्द

"महाराणा सरूपसिंह ने मेहता शेरसिंह की जगह मेहता गोकुलचन्द को, जो मेहता अगरचन्द के ज्येष्ठ पुत्र देवीचन्द का पौत्र और सरूपचन्द का पुत्र था, प्रधान बनाया। फिर वि० सं० १९१६ (ई० स० १८५९) में महाराणा ने उसके स्थान पर कोठारी केशरीसिंहजी को प्रधान नियत किया। महाराणा शम्भुसिंह के समय वि० सं० १९२० (ई० स० १८६३) में मेवाड़ के पोलिटिकिल एजेण्ट ने सरकारी आज्ञा के अनुसार रीजेन्सी कौन्सिल को तोड़ कर उसके स्थान में "अहलियान श्री दरबार राज्य मेवाड़" नाम की कचहरी स्थापित की और उसमें मेहता गोकुलचन्द तथा पण्डित लक्ष्मणराव को नियत किया। वि० सं० १९२२ (ई० स० १८६५) में महाराणा शम्भुसिंह को राज्य का पूरा अधिकार मिला। वि० सं० १९२३ (ई० स० १८६६) में अहलियान राज्य की कचहरी टूट गई और उसके स्थान में "खास कचहरी" क़ायम हुई। उस समय गोकुलचन्द माण्डलगढ़ चला गया। वि० सं० १९२६ (ई० स० १८६९) में कोठारी केसरीसिंह ने प्रधान पद से स्तीफा देदिया, तो महाराणा ने वह काम मेहता गोकुलचन्द और पं० लक्ष्मणराव को सौंपा। बड़ी रूपाहेली और लांबा वालों के बीच कुछ जमीन के बाबत झगड़ा होकर लड़ाई हुई, जिसमें लांबा वालों के भाई आदि मारे गये। उसके बदले में रूपाहेली का तस-

† राजपूताने का इ० चौथा खं० पृ० १३, १६–२०।

वारिया गाँव लाँवा वालों को दिलाना निश्चय हुआ; परन्तु रूपाहेली वालों ने महाराणा शम्भुसिंह की आज्ञा न मानी, जिस पर गोकुलचन्द की अध्यक्षता में तसवारिये पर सेना भेजी गई। वि० सं० १९३१ (ई० स० १८७४) महाराणा शम्भुसिंह ने मेहता पन्नालाल को क़ैद किया, तब उसके स्थान पर गोकुलचन्द मेहता और सहीवाला अर्जुनसिंह महकमा खास के कार्य पर नियुक्त हुये। उसमें अर्जुनसिंह ने तो शीघ्र ही इस्तीफा दे दिया और गोकुलचन्द मेहता कुछ समय तक इस कार्यको करता रहा, फिर वह माँडलगढ़ चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई †।

मेहता पन्नालाल—

"वि० सं० १९२६ (ई० स० १८६९) में महाराणा शम्भुसिंह ने खास कचहरी के स्थान में 'महकमा ख़ास' स्थापित किया, तो पण्डित लक्ष्मणराव ने अपने दामाद मार्तण्डराव को उसका सेक्रेटरी बनाने का उद्योग किया, परन्तु उससे काम न चलता देखकर महाराणा ने मेहता पन्नालाल ‡ को, जो पहिले ख़ास कचहरी में

---

† रा. पू. का. इ. चौ. भा. पृ० १३२० ।

‡ मेहता पन्नालाल मेहता अगरचन्द के छोटे भाई हँसराज के ज्येष्ठ पुत्र दीपचन्द के द्वितीय पुत्र प्रतापसिंह का पौत्र (मुरलीधर का बेटा) था। जब हड़क्या खाल की लड़ाई में होल्कर की राजमाता अहिल्याबाई के भेजे हुये तुलाजी सिंधिया और श्री भाई के साथ की मरहटी सेना से मेवाड़ी सेना की हार हुई और मरहटों से छीने हुये स्थान सब छूट गये, उस समय दीपचन्द ने जावद पर एक महिने तक उनका अधिकार न होने दिया। अन्त में तोप आदि लड़ाई के सारे सामान तथा अपने सैनिकों को साथ लेकर वह मरहटी सेना को चीरता हुआ माण्डलगढ़ चला आया।

असिस्टेंट (नायब) के पद पर नियत था, योग्य देखकर सेक्रेटरी बनाया। कुछ समय पश्चात् प्रधान का काम भी महकमा खास के सेक्रेटरी के सुपुर्द हो गया और प्रधान का पद उठ गया। जब महाराणा को कितने एक स्वार्थी लोगों ने यह सलाह दी, कि बड़े बड़े अहलकारों से १०-१५ लाख रुपये इकट्ठे कर लेने चाहियें, तब महाराणा ने उनके बहकाये में आकर, कोठारी केसरीसिंह, छगनलाल तथा मेहता पन्नालाल आदि से रुपया लेना चाहा। पन्नालाल से १२०००० रु० का रुक्का लिखवा लिया, परन्तु श्याम-लदास (कविराजा) तथा पोलिटिकिल एजेण्ट कर्नल निक्सन के कहने से उनके बहुत से रुपये छोड़ दिये। और पन्नालाल से सिर्फ ५०००० रु० वसूल किये। मेहता पन्नालाल ने अपनी प्रबन्ध कुशलता के परिश्रम और योग्यता से राज्य-प्रबन्ध की नींव दृढ़ करदी और खानगी में वह महाराणा को हरएक बात का हानि लाभ बताया करता था, इसलिये बहुत से रियासती लोग उसके शत्रु हो गये। उसे हानि पहुँचाने के लिये उन्होंने महाराणा से शिकायत की, कि वह खूब रिश्वत लेता है और उसने आप पर जादू कराया है। महाराणा बीमार तो था ही, इतने में जादू कराने की शिकायत होने पर मेहता पन्नालाल वि०सं० १९३१ भाद्रपद वदि १४ (ई० स० १८७४ ता० ९ सितम्बर) को कर्ण-विलास में क़ैद किया गया, परन्तु तहक़ीक़ात होने पर दोनों बातों में वह निर्दोष सिद्ध हुआ, तो भी उसके इतने दुश्मन हो गये थे, कि महाराणा की दाह-क्रिया के समय उसके प्राण लेने की कोशिश

भी हुई। यह हालत देखकर मेवाड़ के पोलिटिकिल एजेण्ट ने उसे कुछ दिन के लिये अजमेर जाकर रहने की सलाह दी, जिस पर वह वहाँ चला गया।

मेहता पन्नालाल के क़ैद होने पर महकमा ख़ास का काम राय सोहनलाल कायस्थ के सुपुर्द हुआ। परन्तु उससे वह कार्य होता न देखकर वह कार्य मेहता गोकुलचन्द और सहीवाला अर्जुनसिंह को सौंपा गया।

पन्नालाल के अजमेर चले जाने के बाद महकमे ख़ास का काम अच्छी तरह न चलता देखकर महाराणा सज्जनसिंह के समय पोलिटिकिल एजेण्ट कर्नल इवर्ट ने वि० सं० १९३२ भाद्रपद सुदी ४ (ई० स० १८७५ ता० ४ सितम्बर) को अजमेर से उस को पीछा बुलाकर महकमा ख़ास का काम उसके सुपुर्द किया।

महारानी विक्टोरिया के क़ैसरे-हिन्द की उपाधि धारण करने के उपलक्ष में हिन्दोस्तान के गवर्नर जनरल लार्ड लिटन ने ई० स० १८७७ ता० १ जनवरी (वि० सं० १९३३ माघ बदी २) को दिल्ली में एक बड़ा दरबार किया, उस प्रसंग में पन्नालाल को 'राय' का ख़िताब मिला। जब महाराजा ने वि०सं० १९३७ में 'महद्राजसभा' की स्थापना की उस समय उसको उसका सदस्य भी बनाया। महाराणा सज्जनसिंह के अन्त समय तक वह महकमा ख़ास का सेक्रेटरी बना रहा और उसकी योग्यता तथा कार्यदक्षता से राज्य-कार्य बहुत अच्छी तरह चला। उसके विरोधी महाराणा से यह शिकायत करते रहे; कि वह रिश्वत बहुत लेता है; परन्तु महाराणा

ने उनके कथन पर कुछ भी ध्यान न दिया।

महाराणा सज्जनसिंह के पीछे महाराणा फतहसिंह को मेवाड़ का स्वामी बनाने में उसका पूरा हाथ था। उक्त महाराणा के समय ई० स० १८८७ में महाराणी विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर उसको सरकार ने सी० आई० ई० के ख़िताब से सम्मानित किया।

वि० सं० १९५१ (ई० स० १८९४) में उसने यात्रा जाने के लिये ६ मास की छुट्टी ली; तब उसके स्थान पर कोठारी बलवन्तसिंह और सहीवाला अर्जुनसिंह नियत हुये। वि० सं० १९७५ के चैत्र कृष्ण ३० को पन्नालाल ने इस संसार से कूँच किया। राजा प्रजा और सरदारों के साथ उसका व्यवहार प्रशंसनीय रहा और वे सब उससे प्रसन्न रहे। पोलिटिकिल अफसरों ने उसकी योग्यता कार्य-कुशलता एवं सहनशीलता आदि की समय-समय पर बहुत कुछ प्रशंसा की है। उसका पुत्र फतेलाल महाराणा फतेसिंह के पिछले समय उसका विश्वासपात्र रहा। उस (फतेलाल) का पुत्र देवीलाल उक्त महाराणा के समय महकमा देवस्थान का हाकिम भी रहा।

इस प्रकार मेहता अगरचन्द और उसके भाई हँसराज के घरानों में उपर्युक्त चार पुरुष प्रधान मंत्री रहे और उनके वंश के अन्य पुरुष भी माँडलगढ़ की क़िलेदारी के अतिरिक्त राज्य के अलग अलग पदों पर अब तक नियुक्त होते रहे हैं † "।

---

† रा० पू० इ० चौ० भा० पृ० १३२१–२२।

नाथजी का वंश

मेहता थिरूशाह:-

इस वंश के पहले सोलंकी राजपूत थे। जैनधर्म के उत्कर्ष के समय सं० ११०० विक्रमी के आस पास जैनधर्म के स्वीकार करने पर इनकी गणना भंडसाली गोत्र के ओसवालों में हुई। भण्ड-सालियों में थिरूशाह भण्डसाली बहुत प्रसिद्ध हो गया है। इस गोत्र के लोग मारवाड़ के खिमल गांव में विशेष कर रहते हैं। इस गोत्र की माता खिमल माता और नगारा 'रणजीत' है। शास्त्रोक्त गोत्र भारद्वाज और माध्यन्दिनी शाखा है!

मेहता चीलजी:-

किसी समय चीलजी नाम के इस वंश में प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं, जिनको राज्य-सम्बन्धी महत् कार्यों के करने के कारण 'महता' पदवी मिली। इसलिए इनका वंश चीलमहता के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश के उदयपुर में ७ तथा मेवाड़ में क़रीब १० कुटुम्ब होंगे। इससे मालूम होता है कि मारवाड़ से मेवाड़ में आनेवाला एक ही महापुरुष होना चाहिए जिनके ये वंशज हैं।

मेहता जालजी—

इतिहास से पता लगता है कि महाराणा हमीर के समय में इस वंश के महता जालजी (जलसिंह) सोनगरे मालदेव की पुत्री के साथ महाराणा का विवाह होने के कारण उनके कामदार (प्राईवेट सेक्रेटरी) बन कर सब से पहले मेवाड़ में आये। इन्होंने

यहाँ आने पर राज्य की वड़ी सेवा की है, जिसका वर्णन टॉड साहब ने अपने इतिहास में किया है।

मेहता नाथजी:—

नाथजी का इनके वंश में होना सेवगों की वहियों से मालूम होता है, उदयपुर के प्रसिद्ध खान्दान मेहता रामसिंहजी के वंशज मेहता जलसिंह के पाखी वंशज वतलाये जाते हैं। जो वहुत अर्से से राज्य के प्रतिष्ठित ओहदों पर चले आ रहे हैं। जिनको कि १९७५ में गाँव आदि जागीर में मिले जिनका वर्णन ओझाजी ने किया है।

नाथजी के वंश में सं० १९७३ के पहले से जागीरी चली आ रही थी, जिसका पता उनके पुत्र मेहता लक्ष्मीचंद के खाचरोल के घाटे में लड़ाई में काम आने पर मेहता देवीचंदजी के नाम श्री दरवार के एक रुक्के से चलता है, जिसमें गांव आदि वहाल रखने का हुक्म दिया है।

नाथजी मेहता जो पहले उदयपुर के पास देवाली नामक गाँव में रहते थे, घरेलु कारण से कोटे चले गये। वहां उन्होंने राज्य का काम किया, जिसकी खिदमत में कुछ खेत कुएं आदि मिले वतलाये जाते हैं। सं० १९०७ के आस पास कोटे से मांडलगढ़ चले आये। ये वीर और साहसी थे। जमाना लड़ाइयों का था ही, अतः मांडलगढ़ के किले पर उन्हें फौज की अफसरी दी गई और इसकी एवज में नवलपुरा गाँव जागीर में मिला।

इन्होंने किले की कोट पर एक वुर्ज वनवाई, जो अव भी

नाथबुर्ज के नाम से प्रसिद्ध है। किले पर भगवान् का सन्दिर तथा किले से कुछ दूर एक पहाड़ पर माता का मंदिर बनाया जो विजासण माता के नाम से मशहूर है। इनका निवासस्थान अब भी किले के कोट पर दरवाजे के ऊपर बना हुआ है, जिससे क़िले की निगरानी हो सके।

मेहता लक्ष्मीचन्दजीः—

नाथजी के पुत्र का नाम लक्ष्मीचन्दजी था, जो खाचरौल के घाटे में सं० १९७२ के श्रावण शुक्ल ५ के दिन लड़ाई में काम आये। इनके पिता नाथजी का देहान्त पहले हो चुका था। कुछ अवसरों पर पिता और पुत्र दोनों लड़ाइयों में साथ रहे ऐसा मालूम हुआ है।

मेहता जोरावरसिंहजी, मेहता जवानसिंहजीः—

लक्ष्मीचन्दजी की मृत्यु के समय इनके दो पुत्र-जोरावरसिंहजी और जवानसिंहजी की उम्र ५ और २ वर्ष की होने के कारण नाबालगी हो गई। घर में इतना द्रव्य नहीं था, कि मौजूदा कुटुम्ब का पालन हो सके। इनकी माता बहुत ही होशियार और बुद्धिमति थी। अनेक आपत्तियों का सामना करती हुई उसने अपने दोनों बच्चों को बड़ा किया।

इनके भाई जो बहुत आसूदा थे, अपनी विधवा बहिन और अपने छोटे भानजों को अपने गांव मगरोप ले जाना चाहते थे किन्तु उसने यह कह कर मना किया, कि मेरे यहाँ (घर) रहने से मेरे बच्चे मेरे पति के नाम से पुकारे जाँयगे और आपके

वहाँ रहने से अमुक मामे के भानजों के नाम से पुकारे जाँयगे। जो कुल-गौरव के विपरीत है।

उस समय की स्त्रियों में कितना स्वाभिमान एवं कुल-गौरव का भाव था। उन्होंने चर्खा आदि कात कर अपने दोनों बच्चों का पालन किया। यद्यपि श्री जी हजूर दरबार का हुक्म मेहता देवीचन्दजी के नाम इस कुटुम्ब को मदद देनेका हुआ था, किन्तु उसका ज्यादा असर नहीं होने दिया गया।

बड़े पुत्र जोरावरसिंहजी मेवाड़ के प्रसिद्ध दिवान महता रामसिंहजी के दरबार की नाराजगी के कारण बाहर चले जाने के कारण ब्यावर चले गये और वहीं उनका देहान्त हुआ।

छोटे पुत्र जवानसिंहजी बड़े प्रतिभाशाली थे। इन्होंने अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा, अपनी स्थिति उन्नत कर ली। कहा जाता है कि इन्होंने कभी भी बिना १०-२० मनुष्यों को साथ लिए भोजन नहीं किया। कई राजपूत सरदार इनके साथ रहते थे। कई बार श्री जी हजूर में हाजिर हुए। सिरोपाव आदि बख्शे गये। नवलपुरा गांव जो उनकी जागीर में अर्से से चला आ रहा था और जो इनकी नाबालगी में जप्त करा दिया गया था। इन्होंने अपनी कोशिश से सं० १९०४ में हजूर में अर्ज करा कर इस्तमुरार करा लिया।

एक समय की बात है मांडलगढ़ निवासी शंकरजी जोशी की गायें चित्तोड़ा की बनी में डाकू लोग ले गये। जोशीजी ने यह बात जवानसिंहजी से कही। जवानसिंहजी यह बात सुनते ही

चोरों का पीछा करने के लिए घोड़ी पर चढ़ कर रवाने हो गये। पीछे से सेमरिया ठाकुर भी वहाँ आ पहुँचे। डांकुओं की संख्या विशेष थी, आपस में खूब लड़ाई रही। अंत में चार डाकू उनके द्वारा मारे गये। और उनके सिरों को बेगू में लटका दिया। इस घटना के—कुछ अर्से बाद ३९ वर्ष की अवस्था में ही परलोक सिधारे। इनके दो पुत्र चत्रसिंहजी और कृष्णलालजी थे। ये दोनों धार्मिक प्रवृति के होने पर भी विशेष साहसी थे।

मेहता चत्रसिंहजी:—

चत्रसिंहजी की गणना मेवाड़ के भक्त पुरुषों में थी। श्रीमान् महाराणा साहब शंभूसिंहजी ने इन्हें योग्य एवं विश्वस्त समझ कर एकलिंगजी के मन्दिर का दरोगा नियुक्त किया। और ३) रोज यानी ९०) माहवार की तनख्वाह तथा चढ़नेके लिए सरकारी घोड़ा दिया। वे वहां पर ३ साल तक काम करते रहे किन्तु देवद्रव्य समझ कर तनख्वाह आदि कुछ भी नहीं ली थी। यद्यपि उनको अपने बड़े कुटुम्ब को पालने के लिए अनेकों आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके बाद महाराणा के हुक्म खर्च के ख़जाने पर नियुक्त हुए। इन महाराणा के स्वर्गवास होने पर महाराणा शंभूसिंहजी की राणी के कामदार नियुक्त किये गये। इनकी राज्य में प्रतिष्ठा रही। इनका अधिक समय ईश्वरोपासना में बीतता था। इनकी मृत्यु सं० १९७३ के श्रावण मास में हुई।

नाथजी-वंश

- लक्ष्मीचंदजी
  - जोरावरसिंहजी
    - मोखमसिंहजी
      - रघुनाथसिंहजी
        - हरनाथसिंहजी
  - जवानसिंहजी
    - चतुरसिंहजी ——— कृष्णलालजी
      - कृष्णलालजी
        - माधवसिंहजी
      - इन्द्रसिंहजी
        - कुनणसिंहजी
          - भँवरजी
      - मदनसिंहजी
        - फतेलालजी
      - मालूमसिंहजी
        - मनोहरसिंहजी
          - प्रतापसिंहजी
      - जालिमसिंहजी
        - बलवन्तसिंह
          - जसवन्तसिंह
- हरिसिंहजी

- गोविन्दसिंहजी
  - मनोहरसिंहजी
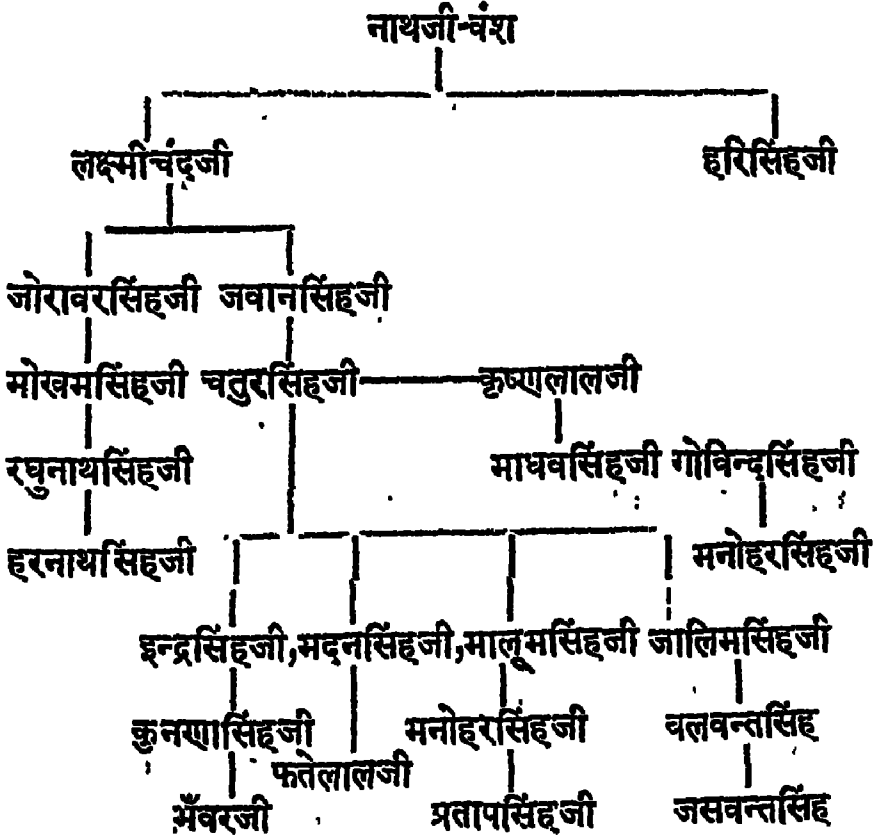
सरूपरया वंश

विक्रम संवत् १२९७ में परम पवित्र वीर-भूमि श्री मेदपाट के सिंहासन पर हिन्दु-कुल चूड़ामणि महाराणा कर्णादित्यसिंह विराजते थे। उनके तीन पुत्र राफ़जी माफ़जी व श्रवणजी केलवेगाँव के पास शिकार करने गये, जहाँ श्री कपिल ऋषि तपस्या करते थे—अकस्मात् उक्त ऋषि शिकार में मारे गये। उनकी स्त्री रंगा जो कुछ दूर ही तपस्या कर रही थी, उनके पास शिकारी कुत्ते ऋषि के मृत शरीर की अस्थियाँ ले गये तब रंगा सती को अपने पति के मरने का हाल मालूम होने पर वह पति की अस्थियाँ लेकर सती होगई और तीनों राजकुमार राफ़जी माफ़जी व श्रवणजी को शाप दे गई कि तुम्हारे कोढ़ निकलेगा। तदनुसार कोढ़ निकलनेपर बहुत चिकित्सा करने पर भी शान्त न होने से मारवाड़ से यति श्री यशोभद्रसूरि (अपर नाम शांतिसूरि) को कोढ़ मिटानेके लिये बुलाया उनकी चिकित्सा से आराम होने पर राजा ने प्रसन्न हो यतिजी को वर माँगने के लिये कहा, तो यतिजी ने छोटे राजकुमार श्रवणजी को वर में माँगा और उनको श्रावक व्रत धारण करा जैनधर्म अंगीकार कराया। इन्हीं श्रवण जी से यह वंश चला आ रहा है—इन श्रवणजी की २५वीं पीढ़ी में डूंगरसीजी हुवे—जो संवत् १४६८ में राणा लाखा के कोठार के दारोगा थे। राणाजी ने इनको सरोपाव बख्स कर सुरपुर गाँव बख्शा, जो पुर के पास होकर आज दिन तक वहाँ सरूपरयों के

महल के नाम से विख्यात होकर कुछ खंडहर अभी तक विद्यमान हैं। तथा डूंगरसीजी के पहिले तक तो यह अवणजी का वंश सिसोदिया के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु डूंगरसीजी को सुरपुर बख्सीस होने पर यह वंश सरूपरया (गोत्र सिसोदया) कहलाने लगा। कहते हैं कि राणाजी इनके यहाँ खेंखरा (दिवाली के दूसरे दिन) को हीड़ हींचवा पधारते थे। १५१० में डूंगरसीजी ने जारेड़ा (रामपुरा रियासत हाल ग्वालियर) में आदीश्वर भगवान की चौमुखी मूर्ति स्थापन करा मंदिर बनवाया—डूंगरसीजी की पाँचवीं पीढीमें गोविन्दजी हुवे—जिनके दो पुत्र (ज्येष्ठ) पारसिंह व (कनिष्ट) नरसिंह थे—पारसिंह की छटवीं पीढी में उदेसिंह के द्वितीय पुत्र गिरधरलालजी के वंशज अभी तक उदयपुर में मौजूद हैं।

इसी तरह कनिष्ठ पुत्र नरसिंह के द्वितीय पुत्र पद्मोजी के पोते नेताजी जो मारवाड़ की तर्फ़ गये। उनके तीसरे लड़के गजो-जी थे—गजोजी के तीसरे लड़के राजोजी हुये और राजोजी के चार लड़के उदाजी, दुयाजी, दयालजी जो पीछे दयालसाह के नाम से विख्यात हुए, व देधाजी थे।

दयालशाह की बावत जो ख्याति ओझाजी के राजपूताने के इतिहास में चली आ रही है कि ये पहिले पुरोहित के यहाँ काम करते थे, और एक वक्त बाहिर कार्य वश गाँव जाते समय उन्होंने जो कटार पुरोहितजी से माँगी तो उसमें से जो चिट्ठी अकस्मात् इनके हाथ आ गई वो इन्होंने राणाजी को उनके प्राण-

रक्षा करने के लिये बतादी—और राणाजी ने इनकी स्वामि-भक्ति से प्रसन्न हो, अपने प्रधान का पद इनको दिया। परन्तु इसके विरुद्ध यहाँ हाल जाहिर आया है कि दयालजी पहिले मारवाड़ की तरफ़ रहते थे। जिस वक्त राजसमुद्र का निर्माण आरंभ हुवा उस वक्त नींव में का पानी न रुकने से किसी ज्योतिषी के कथनानुसार दयालशाह की पतिव्रता स्त्री गौरादेवी को उनके हाथ से समुद्र की परिक्रमा कच्चे सूत से लगवा इन्हीं सती के हाथ से नींव का पत्थर जमवाया और उसीके बाद दयालशाह को अपने प्रधान पद पर नियुक्त किया। दयालशाह एक वीर पुरुष, स्वामि-भक्त व बड़े चतुर विलक्षण धार्मिक पुरुष थे। कहते हैं कि राजसमुद्र के तालाब व नौ चौकियों का निर्माण इन्हीं की देख रेख में हुवा था और इन्होंने भी पास ही एक पहाड़ पर श्रीआदेश्वर भगवान की चौमुखी मूर्ति स्थापना करा सं० १९६२ में मंदिर का निर्माण कराया, जो आजदिनतक दयालशाह के क़िले के नाम से विख्यात है और मंदिर के चारों तरफ़ कोट बन कर लड़ाई की बुर्जें अभी तक विद्यमान हैं। इस मंदिर के पहिले नौमंजिल थे, जिसका कुल खर्चा बनाने में ९९९९९॥≈)॥॥ हुवा।

उस वक्त की कविता भी चली आ रही है—

जब था राणा राजसी, तब था शाह दयाल।
अणां बंधाया देहरो, बणा बंधाई पाल॥

हिम्मतसिंहजी स्वरूपरया एम.ए. एल.एल.बी. द्वारा लिखित।

शिशोदिया वंश के जैन-वीर

अर्थात्

मेहता ड्योढीवाला खान्दान

मेहता सरवणजी—

मेहता ड्योढीवालों का वंश चित्तौड़ (मेवाड़) के रावल करणसिंहजी के सब से छोटे पुत्र सरवणजी से निकला है। रावत करणसिंहजी के तीन पुत्र थे—माहपजी, राहपजी और सरवणजी। माहपजी मेवाड़ छोड़ कर डूंगरपुर चले गये और वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। राहपजी ने 'राणा' पदवी धारण कर मेवाड़ पर राज्य किया और सरवणजी ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। उनके चार पुत्र हुए। सरवणजी ने फिर चित्तौड़ पर श्री शीतलनाथजी का मन्दिर बनवाया। सरवणजी के जैनधर्म में दीक्षित होजाने से, राहपजी ने इनको जनानी ड्योढी की रक्षा का कार्य सुपर्द किया जो आज दिन तक इन्हीं के वंश में चला आ रहा है। जैनी हो जाने के पश्चात् इनकी सन्तान की शादियाँ ओसवाल जाति में होने लगी और ओसवाल जाति में इनकी या इनके वंश की विशेष मान और प्रतिष्ठा रही।

मेहता सरीपतजी—

सरवणजी के पुत्र सरीपतजी को राणा राहपजी ने 'मेहता' की पदवी दी। इनके वंश वाले शिशोदिया मेहता कहलाते हैं। सरीपतजी के वंश वाले शिशोद्या मेहता महाराणा उदयसिंहजी के समय में चित्तौड़ के अन्तिम (तीसरे) शाका में लड़े और काम आये, सिर्फ़ मेहता मेघराजजी बच गये, जो राणा उदयसिंह जी के साथ उदयपुर चले आये।

मेहता मेघराजजी—

मेहता मेघराजजी ने उदयपुर में श्री शीतलनाथजी का मन्दिर तैय्यार करवाया और टीम्बा (मेहतों का टीबा) बसाया। मेहता मेघराजजी की चौथी पाँचवीं पीढी में मेहता मालदासजी हुए जिन्होंने मरहटों के साथ लड़कर बड़ी बहादुरी दिखलाई।

मेहता मालदासजी—

महाराणा भीमसिंहजी के समय में मरहटों का ज़ोर मेवाड़ में बहुत बढ़ा चढ़ा था। मेवाड़ का प्रधान उन दिनों में सोमचन्द गाँधी था। इसने मरहटों को मेवाड़ से बाहर निकालने का निश्चय किया। इसने पहले राजपूताने के राजाओं को मरहटों से लड़ने के लिये भड़काया। वि० सं० १८४४ (ई० स० १७८७) में जब मरहटा लालसोट की लड़ाई में हार चुके तब सोमचन्द ने यह सु-अवसर देखकर, उसी वर्ष मार्गशीर्ष में चूंडावतों को उदयपुर की रक्षा का भार सौंप कर, मेहता मालदास को मेवाड़ तथा कोटा

की संयुक्त सेना का अध्यक्ष बनाया और उसको मरहटों के साथ लड़ने के लिये भेजा। यह सेना उदयपुर से रवाना होकर निम्बाहेड़ा, नकुम्प, जीरण आदि स्थानों पर अधिकार करती हुई जावद पहुँची। जहाँ सदाशिवराव की मातहती में मरहटों ने पहले तो कुछ दिनों तक सामना किया परन्तु पीछे से वे कुछ शर्तों पर शहर छोड़ कर चले गये। इस तरह मेहता मालदास की अध्यक्षता में मेवाड़ की सेना को मरहटों पर विजय प्राप्त हुई।

यह खबर पाकर राजमाता अहिल्याबाई (होल्कर) ने तुलाजी सिंधिया तथा श्रीभाई की मातहती में ५००० सवार जावद की ओर भेजे "यह सेना कुछ काल तक मन्दसोर में ठहर कर मेवाड़ की ओर बढ़ी, तब महाराणा ने उसका मुकाबला करने के लिये मेहता मालदास की अध्यक्षता में सादड़ी के सुलतानसिंह, देलवाड़े के कल्याणसिंह, कानोड़ के रावत जालिमसिंह, सनवाड़ के बाबा दौलतसिंह आदि राजपूत सरदारों तथा सादिक पंजू वगैरह सिंधियों को अपनी अपनी सेना सहित रवाना किया। वि० सं० १८४४ माघ (ई० स० १७८८ फरवरी) में मरहटी सेना से हड़क्याखाल के पास राजपूतों की लड़ाई हुई, जिसमें मेवाड़ का मंत्री तथा सेनापति मेहता मालदास, बाबा दौलतसिंह का छोटा भाई किशनसिंह आदि अनेक राजपूत सरदार एवं पंजू आदि सिन्धी वीरता के साथ लड़ कर काम आये"। कर्नल टॉड ने 'एनाल्स ऑफ़ मेवाड़' में मेहता मालदास के लिये लिखा है 'मालदास मेहता प्रधान थे और उनके डिप्टी मौजीराम थे। ये दोनों बुद्धिमान और वीर थे।'

Maldas Mehta was civil member with Maujiram as his Deputy, both men of talent and energy.

मेहता मालदासजी का बड़े बड़े सरदार और सिन्धियों का सेनापति एवं अध्यक्ष बनाया जाना और वीरता के साथ लड़ कर मारा जाना, इस वंश के लिये बड़े ही गौरव की बात है।

मेहता मालदास का घराना उदयपुर में आज भी चला आ रहा है जो ड्योढी वाला मेहता के खान्दान से मशहूर है†।

† मेहता जोधसिंहजी बी.ए., एल.एल.बी. द्वारा लिखित और मास्टर बल-वन्तसिंहजी की कृपा से प्राप्त।

सोमचन्द गांधी—

राजपूताने के इतिहासमें लिखा है कि "रावत भीमसिंह आदि चूड़ावत सरदारों ने महाराणा (भीमसिंह इ० स० १७६८ ता० १० मार्च राज्य-प्राप्ति) को अपने कब्जे में कर लिया था। जब कभी महाराणा को रुपयोंकी आवश्यकता होती तब वे खजाने में रुपया न होनेके कारण कोरा जवाब दे देते थे।......एकदिन राजमाता ने चूण्डावतों से कहा कि महाराणाके जन्मोत्सव के लिये खर्च का प्रबन्ध करना चाहिये। इस अवसर पर भी वे टाल मटूल करगये इन बातों से राजमाता चूण्डावतों से बहुत अप्रसन्न होगई इधर सोमचन्द गांधी ने जो जनानी ड्योढ़ी पर काम करता था; राम-प्यारी के द्वारा राजमाता से कहलाया कि यदि मुझे प्रधान बनादें तो मैं रुपयों का प्रबन्ध करदुं। राजमाता ने उसे प्रधान बनादिया। वह बहुत योग्य और कार्यकुशल कर्मचारी था। उसने शक्तावतों से मेलजोल बढ़ाया और उनकी सहायता से थोड़े ही दिनों में कुछ रुपये इकट्ठे कर राजमाता के पास भेजदिये। इसपर चूण्डावत सर-दार सोमचन्द और उसके सहायकों को सताने तथा हानि पहुँचाने लगे। सोमचन्द ने चूण्डावतोंको नीचा दिखानेके लिए भिंडर और लावा के शक्तावत सरदारों को राजमाता से सिरोपाव आदि दिला कर अपनी ओर मिला लिया और कोटे के झाला जालिमसिंह को भी जिसकी चूण्डावतों से शत्रुता थी अपना मित्र तथा सहायक बनालिया। इसके बाद उस (सोमचन्द) ने राजमाता से मिलकर यह स्थिर किया कि महाराणा भींडर जाकर मोहकमसिंह शक्तावत

को (जो बीस वर्ष से राज वंश से विरुद्ध होरहाहै) अपने साथ उदयपुर ले आवें ......प्रधान सोमचन्द और भींडर के महराज मोहकमसिंह आदि ने यह निश्चय किया कि मरहटों से मेवाड़ राज्य का वह भाग, जिसे उन्होंने दबा लिया है छीन लेना चाहिये। इस कार्य में पूरी सफलता पानेके लिये चूण्डावतों की सहायता आवश्यक समझ उन्होंने रामप्यारी को सलूंबर भेजकर वहां से रावत भीमसिंह को जो शक्तावतोंके जोर पकड़ने के कारण उदयपुर छोड़कर चलागया था बुलवाया था।...इस प्रकार सोमचन्द ने घरेलू झगड़े को दूरकर जयपुर जोधपुर आदि राज्यों के स्वामियों को मरहटों के विरुद्ध ऐसा भड़काया कि वे भी राजपूताने को मरहटों के पंजों से छुड़ाने के कार्य में महाराणा का हाथ बटाने के लिये तैयार होगये।"

वि० सं० १८४४ (ई० स० १७८८) में लालसोट की लड़ाई में मारवाड़ और जयपुर के सम्मिलित सैन्य से मरहटों की पराजय होने के कारण राजपूताने में उनका प्रभाव कुछ कम हो गया था। इस अवसर को अच्छा देख कर सोमचन्द आदि ने शीघ्र ही मरहटों पर चढ़ाई करने का निश्चय किया" पृ० ९८४-८७।

"चूण्डावतों ने प्रकट रूप से तो अपने विरोधियों से प्रेम करलिया था परन्तु अन्तःकरण से वे उनके शत्रु बने रहे और सोमचन्द गांधी को मारने का अवसर ढूंढरहे थे। अपनी अचल राजनिष्ठा एवं लोकप्रियताके कारण वह (सोमचन्द)चूण्डावतों की

आँखोंमें बहुत खटकताथा,पर वहबड़ाही दूरदर्शी और नीतिकुशल था जिससे उन्हें उससे बदला लेने का कभी अवसर ही नहीं मिलता था, वि० स० १८४६ कार्तिक सुदी ६ (ई० स० १७८९ ता० २४ अक्टूबर) को जब कुरावड़ का रावत अर्जुनसिंह और चावंड का रावत सरदारसिंह महलों में गये उस समय सोमचन्द प्रधान भी वहीं था। उसे मारनेका यह उपयुक्त अवसर पाकर उन्हों ने सलाह करने का बहाना किया और उसे अपने पास बुलाया तथा उससे यह पूछते हुये कि "तुम्हें हमारी जागीर जब्त करनेका साहस कैसे हुआ "दोनों तरफ से उसकी छाती में कटार घुसेड़ दिया जिस से वह तत्काल मरगया।...... जब सोमचन्द के इस प्रकार मारे जाने का समाचार उसके भाई सतीदास तथा शिवदास को मिला, तब वे तुरन्त महाराणा के पास—जो उस समय बदनौर के ठाकुर जेतसिंह के साथ सहेलियों की वाड़ी में था — पहुँचे और अर्ज किया 'हम लोगों को आप शत्रु के हाथ से क्यों मरवाते हैं? आप अपने ही हाथ से मार डालिये।" उनके चले जाने के बाद रावत अर्जुनसिंह सोमचन्द के खून से भरे हुए अपने हाथों को विना धोये ही महाराणा के पास पहुँचा। उस को देखते ही महाराणा का क्रोध भड़क उठा, पर असमर्थ होनेके कारण अर्जुनसिंह की इस ढिठाई के लिये उसे कोई दण्ड तो न दे सका, परन्तु केवल यही कहा —दग़ाबाज मेरे सामने से चलाजा, मुझे मुंह मत दिखला"। महाराणाको अत्यन्त क्रुद्ध देखकर अर्जुनसिंह ने वहाँ ठहरना उचित न समझा और तुरन्त वहां से लौट गया।......

महाराणा की आज्ञा से सोमचन्द का दाहकर्म पीछोले की बड़ी-पाल पर किया गया जहां उसकी छत्री अब तक विद्यमान है।"
(पृ० ९८९)

सतीदास गांधी

"सोमचन्द के पीछे उसका भाई सतीदास प्रधान और शिव-दास उसका सहायक बनाया गया। इधर सतीदास और शिवदास ने अपने बड़े भाई के वध का शत्रुओं से बदला लेने के लिये भींडर के सरदार मोहकमसिंह की सहायता से सेना एकत्र कर चित्तौड़ की ओर कूंच किया। उधर उनका सामना करने के लिये अपनी सेना सहित कुरावड़ के रावत अर्जुनसिंह की अध्यक्षता में चूड़ावत चित्तौड़ से रवाना हुए। अकोला के पास लड़ाई हुई, जिसमें सतीदास की जीत हुई और रावत अर्जुनसिंह ने भाग कर अपनी जान बचाई ......साह सतीदास ने अपने भाई सोमचन्द के क़ातिल को मारडाला (पृ० १०११)।
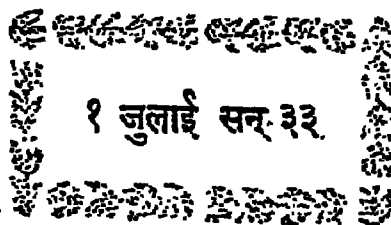
राणाओं के समकालीन जैन मंत्री

वर्तमान शिशोदिया राज-वंश का चित्तौड़ में अधिकार होने (वि०सं०की आठवीं शताव्दी) से पूर्व मेवाड़ की परिस्थिति वताने में इतिहास के पृष्ठ मौन हैं। फिर भी मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ होने से पूर्व नागदा और आहड़में रही हो, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। इन दोनों स्थानों पर बड़े बड़े विशाल प्राचीन जैनमन्दिर अभीतक विद्यमान हैं, जिनसे कि प्रकट होता है कि उस काल में जैनों का वहाँ पर उत्कर्ष रहा होगा।

चित्तौड़गढ़ भी उक्त राजवंशों के आधिपत्य से पूर्व और कुछ बीच में जैनधर्मी राजाओं के अधिकार में रहा है, मेवाड़ में उक्त राजवंश के उत्कर्ष में जैनों का क्या स्थान है, आगे इसी पर विवेचन करना है।

मेवाड़ के उक्त राणाओं का सिलसिलेवार प्रामाणिक इतिहास रावल तेजसिंह से मिलता है, अतः प्रस्तुत निवन्ध का श्री गणेश भी यहीं से किया जाता है। रावल तेजसिंह "परम भट्टारक" उपाधि से सुशोभित थे, यह उपाधि पहले किसी अर्थ में रही हो, किन्तु प्रायः यह विरुद आज तक जैनियों के यहाँ ही प्रचलित है। इन्हीं रावल तेजसिंह की पटराणी जयतल्लदेवी प्रकट रूप में जैनधर्मी हुई है। जिसने कि चित्तौड़ पर श्याम पार्श्वनाथ का मन्दिर वनवाया था। रावल तेजसिंह ने चैत्रगच्छ के आचार्य रत्नप्रभसूरि का अत्यन्त सम्मान किया था।

रावल तेजसिंह के पुत्र वीरवर समरसिंह ने अपने राज्य में जैनाचार्य्य के उपदेश से प्रभावित होकर जीवहिंसा रोक दी थी।

उक्त ऐतिहासिक प्रमाणों से ध्वनित होता है कि यह शायद जैनधर्मी रहे हों।

राजपूतानांतरगत रियासतोंके मंत्री, सेनापति प्रायः जैनी होते आये हैं किन्तु आज उन सब का परिचय तो क्या नाम तक भी उपलब्ध नहीं होते। यहाँ संक्षेप में मेवाड़ के राणाओं के समकालीन जैन मंत्रियों आदि के नाम दिये जाते हैं:—

१ महाराणा लाखा के समय में नव लाखा गोत्र के रामदेव का मंत्री होना पाया जाता है। (देवकुल पाटक प्रशस्ति)

२ महाराणा हमीर के समय में जालसिंह हुये हैं। परिचय के लिये देखो प्रस्तुत पुस्तक पृ० १४८।

३ महाराणा कुँभा के समय में वेला भण्डारी, गुणराज, जीजा बघेरवाल,(जिसने जैन कीर्तिस्तम्भ बनवाया) रत्नसिंह, (जिस ने राणपुरा का मन्दिर बनवाया) आदि कई प्रधान पुरुष हुये।

४ महाराणा साँगा के मित्र कर्माशाह के पिता तोलाशाह थे। राणा की अभिलाषा इनको मंत्री बनाने की थी। किन्तु अत्यन्त धर्मनिष्ठ होने के कारण तोलाशाह ने प्रधानपद स्वीकार नहीं किया। परिचय पृ० ७१।

५ महाराणा रत्नसिंह के मंत्री कर्माशाह थे, जिन्होंने करोड़ों रुपये लगाकर शत्रुंजय का उद्धार कराया और आदिनाथ की मूर्ति स्थापित की। परिचय पृ० ६८।

६ महाराणा विक्रमादित्य के समय में कुम्भलगढ़ का क़िलेदार‡ आशाशाह था, जिसने महाराणा उदयसिंह के शरणागत होने पर अभयदान दिया था। परिचय पृ० ७४।

७ महाराणा उदयसिंह के मंत्री भारमल कावड़िया थे। परिचय पृ० ८०।

८ महाराणा प्रतापसिंह के मंत्री भामाशाह थे। परिचय पृ० ८३। इसके सिवाय उक्त राणा की ओर से हल्दीघाटी के युद्ध में ताराचन्द, मेहता जयमल बच्छावत, मेहता रत्नचन्द खेतावत आदि के लड़ने का उल्लेख मिलता है।

९ महाराणा अमरसिंह का मंत्री भामाशाह और भामाशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जीवाशाह रहा। परिचय पृ० १००।

१० महाराणा कर्णसिंह का मंत्री अक्षयराज था। पृ० १०१।

११ महाराणा राजसिंह का मंत्री दयालशाह था। परिचय पृ० १०२

१२ महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) वीर प्रकृति के पुरुष थे। इन्हों ने ऋषभदेवजी के मन्दिर को एक गाँव भेंट किया।

१३ महाराणा भीमसिंह के मंत्री सोमदास गाँधी मेहता मालदास और मेहता देवीचन्द रहे।

महाराणा भीमसिंहजी से लगाकर महाराणा फतहसिंहजी तक (जिनका कि सन् ३१ में स्वर्गवास हो गया) उदयपुर राज्य के

---

‡ सैनिक-सेवा की दृष्टि से क़िलेदारी-पद राजपूताने में अत्यन्त महत्व का समझा जाता है। क़िले आदि पर हमला होने पर क़िलेदार युद्ध करने में स्वतन्त्र होता है। यह भी एक ज़िम्मेदारी का पद है।

मंत्री जैनी रहते आये हैं। यह लोग तलवार के धनी, बात के पूरे और सच्चे देशभक्त हुये हैं। उदयपुर-राज्य में नगर सेठ भी जैनी ही होता है। जिसका प्रभाव सब जातियों पर रहता है। अभी गत वर्ष जब लोगों ने राज्य-कर विशेष बढ़ाये जाने के कारण हड़ताल करदी थी, तब भी नगर के सेठ के कहने एवं समझाने पर, राज्य के हिन्दु-मुसलमान दुकानदारों ने अपनी दुकानें खोलीं थीं। पहले समय में नगर सेठ का बड़ा प्रभाव रहा है। नगर सेठ राज्य की ओर से चुना जाता है और उसका बड़ा सम्मान रहता है।

नोट—मेवाड़ में उदयपुर राज्य के अलावा बाँसवाड़ा, डूंगर-पुर और प्रतापगढ़ रियासतें और हैं। उदयपुर-राज्य के सिवा उक्त तीन रियासतों के वीरों के सम्बन्ध में अभी तक मुझे कुछ भी विदित नहीं हो सका है। अतः वीरों का परिचय उपलब्ध न होने से यहाँ उक्त रियासतों के मन्दिरादि का परिचय भी स्थानाभाव के कारण रोक लिया है! विद्वान् पाठकों ने भविष्य में यदि यहाँ के सम्बन्ध में कुछ बतलाने की कृपा की तो फिर देखा जायगा।

नहिं चाहत साम्राज्य-सुख, नाहिं स्वर्ग निर्वान।
जन्म-जन्म निज धर्म पै, हरषि चढ़ायौ प्रान॥

—श्री० वियोगीहरि
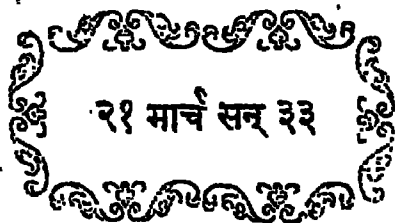
मारवाड़

Here in Jodhpur the rose—red fort stands a romantic and picturesque sentinal over plains of Marwar. Its massive architecture reflects the stubborn spirit of its builder and every stone speaks of the brave deeds of your highness ancestors in the wars which fill so many pages in the history of this country side.

Lord Erwin

अर्थात्—मारवाड़के प्रत्येक शिलाखंड से राजपूतों की वीरता का वह गौरवमय राग निकलता है, जो प्रत्येक दर्शक को सहज ही में अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। —लार्ड अरविन

था यहाँ हँगामा उन सहरा नशीनों का कभी।
बहर बाज़ीगाह था, जिनके सफ़ीनों का कभी॥

ज़लज़ले जिन से शहन्शाहों के दरबारों में थे।
बिजलियों के आशियाने जिनकी तलवारों में थे॥

—"इक़बाल"

मारवाड़-परिचय

मारवाड़-राज्य राजपूताना प्रान्त के पश्चिमी भाग में है। इस के उत्तर में बीकानेर, उत्तर-पूर्व में जयपुर का शेखावाटी परगना, पूर्व में मेवाड़ राज्य और अंग्रेजी अमलदारी का अजमेर मेरवाड़ा जिला, दक्षिण में सिरोही और पालनपुर रियासतें, पश्चिम में कच्छ का रन, (समुद्र की खाड़ी) और सिन्ध प्रान्त का थरपारकर जिला। उत्तर-पश्चिम में जैसलमेर है। यह २४ अंश, ३७ कला, और २७ अंश, ४२ कला उत्तरांश तथा ३० अंश, ५ कला और ७५ अंश २२ कला पूर्व रेखांश के बीच फैला हुआ है। इसकी लम्बाई उत्तर पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक ३२० मील और चौड़ाई १७० मील है। मारवाड़-राज्य की सीमा पहले बहुत विस्तृत थी। अब इस राज्य का क्षेत्रफल ३५, ०१६ वर्ग मील है। इसमें १६० वर्गमील का साँभर झील का हिस्सा भी शामिल है। किन्तु अंग्रेजी इलाका अजमेर-मेरवाड़े की सरहद पर बसे हुये मारवाड़ राज्य के २२ गाँवों की ५० वर्गमील भूमि और सिन्ध का उमरकोट शामिल नहीं है जो मारवाड़-राज्य के होने पर भी सं० १८८० और १८९४ वि० से क्रमशः अंग्रेज सरकार के प्रबन्ध में है और उनके बदले ३ हजार तथा १० हजार रुपये वार्षिक

क्रमशः मिलते हैं। इस ज़मीन में ३०, १८६ और खालसा ४८३० वर्गमील है।

क्षेत्रफल के लिहाज़ से मारवाड़-राज्य तमाम राजपूताने के चौथाई हिस्सेसे भी अधिक विस्तारमें फैला हुआ है। यह अफ्रीका के नेटाल देश से कुछ छोटा किन्तु यूरोप के स्काटलेण्ड, आयरलेण्ड था पुरतगाल से बड़ा है। भारतवर्ष के निज़ाम हैदराबाद, और काश्मीर राज्यों को छोड़कर इसका विस्तार अन्य सब देशी राज्यों से बड़ा है†।

मारवाड़-प्रदेश अपने यथा नाम तथा गुण के अनुसार अनउपजाऊ, रेतीला और बंभड़ है। मारवाड़ में वर्षा बहुत कम होती है, पानी की बड़ी तकलीफ़ रहती है। अधिकाँश ज़मीन की सिंचाई कुओं के ज़रिये होती है। बारह महिने लगातार बहने वाली यहाँ एक भी नदी या नहर नहीं है। इस प्रदेश में इधर-उधर बिखरे हुये अनेक पहाड़ हैं। यहाँ की आबोहवा खुश्क है किन्तु तन्दुरस्ती के लिये बहुत लाभदायक है।

मारवाड़-राज्य की वर्तमान राज्यधानी जोधपुर में है, जो राठौड़ राजपूत जोधाजी ने जेठ सुदी ११ वि० सं० १५१६ शनिवार तदनुसार १२ मई सन् १४५९ ई० को पुरानी राजधानी मंडोर से ५ मील दूरी पर बसाया था। मारवाड़-राज्य को इसी से जोधपुर राज्य भी कहते हैं। मारवाड़ शब्द "मरुवार" का अपभ्रंश है, जिसको प्राचीन काल में 'मरुस्थान' भी कहते थे। मरुस्थान शब्द

† मारवाड़-राज्य का इति० पृ० १-२।

का वास्तविक अर्थ मृत्यु का स्थान है और इसी कारण से इस शब्द का रेगिस्थान के लिये उपयोग किया जाता है ‡।

मारवाड़ की कुल जन-संख्या (आबादी) सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार २१२६४२९ है । जिसमें जैनियों की संख्या १,१३,६६९ है ।

मारवाड़-प्रदेश पर राज्य करने वाले प्रसिद्ध कन्नौजपति राठौड़ राजपूत जयचन्द के वंशधर हैं । सन् ११९४ में शहाबुद्दीन गौरी से परास्त होने पर जयचंद भागते हुये गंगा में डूब गया । इसी का पौत्र सीहाजीराव सन् १२१२ में राजपूताने में आकर बसा और मारवाड़-राज्य की नींव डाली, तभी से उसके वंशधर इस प्रदेश पर राज्य करते आरहे हैं । मारवाड़ में अनेक रमणीय स्थान देखने योग्य हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण "राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक" से (जो कि सरकारी गजेटियरों और रिपोटों से अनुदित किया गया है) केवल कुछ प्राचीन जैन-मन्दिरों का विवरण दिया जाता है:—

१. भिनमाल:—

जिला जसवन्तपुरा, इस को श्रीमाल या भिल्लमाल भी कहते हैं । यह आबूरोड स्टेशन से उत्तर पश्चिम ५० मील व जोधपुर से दक्षिण पश्चिम १०५ मील है, यह छठी से नवीं शताब्दी के मध्य में गूजरों की प्राचीन राज्यधानी थी । A. S. R. W. I. of 1908 से विदित हुआ कि यह श्रीमाल जैनियों का प्राचीन स्थान है ।

---

‡ मारवाड़-राज्य का इति० पृ० ३ ।

ऐसा श्रीमाल महात्म्य में है। यहाँ जाकब तालाव के तट पर उत्तर में गजनीखां की क़ब्र है। इस की पुरानी इमारत के ध्वंशों में एक पड़े हुये स्तम्भ पर एक लेख अंकित है, जिस में लेख है कि वि० सं० १३३३ राज्य चाचिगदेव पारापद गच्छ के पूर्णचन्द्र सूरि के समय श्री महावीर की पूजा को आश्विन वदी १४ को १३ डुम्भा व ८ विसोपाक दिये। एक पुरानी मिहराव में एक जैनमूर्ति अंकित है। जाकब तालाव की भीत में एक लेख है, जिस में आरम्भ में है कि श्री महावीर स्वामी स्वयं श्रीमाल नगर में पधारे थे।

२. माँडोरः—

जोधपुर नगर से उत्तर ५ मील। यह सन् १३८१ तक परिहार वंशी राजाओं की राज्यधानी थी। यहाँ वहुत प्राचीन मन्दिरों के शेष हैं। इनमें वहुत प्रसिद्ध एक दो खन की जैन-मन्दिर की इमारत उत्तर में है। इसमें वहुत कोठरियाँ हैं। मन्दिर में जाते हुये द्वार के आले में चार जैन-तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं व आठ भीतर वेदी में कोरी हैं। यहाँ एक वड़ा शिलालेख था जो दवा पड़ा है। इस के खम्भे १० वीं शताव्दी के पुराने हैं।

३. नाडोलः—

ज़िला देसूरी जवाली स्टेशन से ८ मील यह ऐतिहासिक जगह है। ग्राम के पश्चिम में पुराना क़िला है। इस क़िले के भीतर वहुत सुन्दर मन्दिर श्री महावीर स्वामी का है। यह मन्दिर हलके रंग वाले चुनई पाषाण से बना है और इस में बहुत सुन्दर कारीगरी है। यह चौहान राजपूतों का स्थान है। जैन-मंन्दिर में

तीन लेख १६०९ ई० के हैं व ८ बड़े पाषाण स्तम्भ है । जिन को खेतला का स्थान कहते हैं ।

४. माँगलोदः—

नागौर से पूर्व २० मील यहाँ प्राचीन मन्दिर है, जिस में संस्कृत लेख सन् ६०४ का है । इस में लिखा है कि इस मन्दिर का जीर्णोद्धार धुहलाना महाराज के राज्य में हुआ था । यह लेख जोधपुर में सब से प्राचीन है ।

५. पोकरन नगरः—

जिला सांकरा—जोधपुर नगर से उत्तर-पश्चिम ८५ मील । सातलमेर ग्राम के बाहर दो मील तक ध्वंश स्थान है । यहाँ एक बड़ा जैन-मन्दिर है ।

६. राणपुर (रैनपुर):—

जि० देसूरी—फालना स्टेशन से पूर्व १४ मील व जोधपुर से दक्षिण-पूर्व ८८ मील । यहाँ प्रसिद्ध जैन-मन्दिर है । जो मेवाड़ के राणा कुम्भा के समय में १५ वीं शताब्दी में बना था । यह बहुत पूर्ण है । मन्दिर का चबूतरा २००×२२५ फुट है । मध्य में बड़ा मन्दिर है, जिस में चार वेदी हैं । प्रत्येक में श्री आदिनाथ विराजमान हैं । दूसरे खनपर चार वेदी हैं । आंगन के चार कोने पर ४ छोटे मन्दिर हैं । सब तरफ २० शिखिर हैं जिसको ४२० स्तम्भ आश्रय दिये हुये हैं । संगमर्मर का खुदा हुआ मानस्तम्भ द्वार पर है, उस में लेख है । जिन में मेवाड़ के राजाओं के नाम

बापा रावल से राणा कुम्भा तक हैं। इस मन्दिर के हर एक शिखर के समुदाय जो जो मध्य शिखर हैं, वह तीन खन का ऊँचा है। जो खास द्वार के सामने है, वह ३६ फुट व्यास का है, उसे १६ खम्भे थामे हुये हैं। १९०८ की पश्चिम भारत की रिपोर्ट में है कि इस बड़े मन्दिर को—जो चौमुखा मन्दिर श्री आदिनाथजी का है—पोड़वाड़ महाजन धरणक ने सन् १४४० में बनवाया था। दो और जैन-मन्दिर हैं, उन में एक श्रीपार्श्वनाथजी का १४ वीं शताब्दी का है।

७. सादड़ी नगरः—

ज़ि० देसूरी। प्राचीन नगर जोधपुर से दक्षिण पूर्व ८० मील, यहाँ बहुत से जैन-मन्दिर हैं।

८. कापरदाः—

ज़िला हुकूमत, यहाँ एक जैन-मन्दिर है जो इतना ऊँचा है कि ५ मील से दिखता है। यह १६वीं शताब्दी के अनुमान का है। यह जोधपुर से दक्षिण-पूर्व २२ मील है। बिशालपुर से ८ मील है

९. वरलईः—

देसूरी से उत्तर-पश्चिम चार मील। यहाँ सुन्दर दो जैन-मन्दिर हैं—एक श्रीनेमीनाथजी का सन् १३८६ का व दूसरा श्रीआदिनाथजी का सन् १५४१ का।

१०. जसवन्तपुराः—

आबूरोड स्टेशन से उत्तर-पश्चिम ३० मील, पर्वत के नीचे

एक नगर है। इसके पश्चिम में एक सुन्दर पहाड़ी है। यह पहाड़ी ३२८२ फुट ऊँची है। यहीं रतनपुर ग्राम में श्रीपार्श्वनाथजी का जैन-मन्दिर सन् ११७१ का है, इस में दो लेख सन् ११९१ और १२९१ के हैं।

११. ओसिया:—

जोधपुर से उत्तर ३० मील। यह ओसवाल महाजनों का मूल स्थान है। यहाँ एक जैन-मन्दिर है, जिस में एक विशाल मूर्ति श्री महावीर स्वामी की है। यह मन्दिर मूल में सन् ७८३ के क़रीब परिहार राजा वत्सराज के समय में बनाया गया था। इस के उत्तर-पूर्व मानस्तम्भ है, जिसमें सन् ८९५ है। सन् १९०७ की पश्चिम भारत की प्राग्रेस रिपोर्ट से विदित है कि यह तेवरी से उत्तर १४ मील है। इस का पूर्व नाम मेलपुर पट्टन था। ऊपर कहे हुये प्राचीन मन्दिर सहित यहाँ १२ मन्दिर हैं। हेमाचार्य के शिष्य रत्नप्रभाचार्य ने यहाँ के राजा और प्रजा सब को जैनी बना लिया था।

१२. बाड़मेर:—

जि० मैलानी–जोधपुर शहर से दक्षिण–पश्चिम १३० मील। यहाँ से क़रीब ४ मील। उत्तर–पश्चिम जूनाबगरमेर के ध्वंस हैं। २ मील दक्षिण जाकर ३ पुराने जैनमन्दिर हैं। सब से बड़े मन्दिरजी के एक स्तम्भ पर एक लेख सन् १२९५ का है, जो कहता है कि, उस समय बाहुड़मेरु में महाराजकुल सामन्त-

सिंहदेव राज्य करते थे। एक दूसरा लेख संवत् १३५६ का है, श्री आदिनाथ भगवान् का नाम है। यह जूना बारमेर हतमा से दक्षिण पूर्व १२ मील है।

१३. पालीनगरः—

(माड़वाड़ पाली) जोधपुर रेलवे पर वान्दी नदी के तट पर जोधपुर नगर से दक्षिण ४५ मील। यहाँ एक विशाल जैन-मन्दिर है, जिसको नौलखा कहते हैं। यह अपने बड़े आकार, सुन्दर खुदाई व किले के समान दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध है। इसमें बहुतसा काम चारों तरफ बना है। जिस में भीतर से ही जाया जा सकता है। केवल बाहर एक ही द्वार है, जो ३ फुट चौड़ा भी नहीं है। भीतर आंगन में एक मसजिद भी है जो शायद इसी लिये बनाई गई है, कि इस मन्दिर को मुसलमान ध्वंश न कर सकें। इस नौलखा जैन-मन्दिर में प्राचीन मूर्तियें वि० सं० ११४४ से १२०१ तक की हैं।

१४. सांचारेः—

नगर, जोधपुर से दक्षिण-पश्चिम १५० मील। यहाँ एक पुरानी मसजिद है, जो पुराने जैन-मन्दिर को तोड़ फोड़कर बनाई गई है। यहाँ तीन पाषाण के खम्भों पर ४ लेख हैं उनमें से दो संस्कृत में हैं। जिनका भाव यह है कि (१) संवत् १२९७ मंडप बनाया, संघ पति हरिश्चन्द्र ने; (२) संवत् १३२२ वैशाख वदी १३ सत्यपुर महास्थान के भीमदेव के राज्य में श्रीमहावीर स्वामी के जैन-मंदिर में जीर्णोद्धार किया, ओसवाल भंडारी छाधा द्वारा।

१५. नाणा:—

रेलवे स्टेशन नाणा से २ मील। यहाँ श्रीमहावीर स्वामी का जैन-मन्दिर है। उसमें लेख है कि विलहरा गोत्र के ओसवाल डूडा ने सं० १५०६-माघ बदी १० श्री शान्तिसूरि द्वारा मन्दिर के द्वार पर एक लेख सं० १०१७ का है। आले के भीतर एक लेख सं० १६५९ का है, कि राणा श्री० अमरसिंह ने मन्दिर को दान दिया।

१६. बेलार:—

नाणा से उत्तर-पश्चिम ३ मील। यहाँ एक श्रीपार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर है, उसके खम्भे पर एक लेख सं० १२६५ का है, कि नाणा के राजा धाँधलदेव के राज्य में किसी ओसवाल ने जीर्णोद्धार कराया।

१७. सेवाड़ी:—

बीजापुर से उत्तर-पूर्व ६ मील। यहाँ श्रीमहावीर स्वामी का जैन मन्दिर है, कुछ मूर्तियाँ जैनाचार्यों की हैं। उनके आसन पर वि०सं० १२४५ संदेरक गच्छ है। मन्दिर के द्वार पर कई लेख हैं।

१८. धाणेराव:—

सेवाड़ी से उत्तर-पूर्व ६ मील। पहाड़ी के नीचे श्री महावीर स्वामी का जैन-मन्दिर ११ वीं शताब्दी का है।

१९. बरकाना:—

जि० देसूरी, यहाँ श्री पार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर १६ वीं शताब्दी का है।

२०. सांडेरायः—

यह यशोभद्रसूरि द्वारा स्थापित संद्रक जैनगच्छ का मूल स्थान है। यहाँ श्रीमहावीर स्वामी का जैन-मन्दिर है। जिसके द्वार पर एक लेख है कि सं० १२२१ माघ वदी २ को केल्हणदेव राजा की माता आणलदेवी ने राजा की सम्पत्ति में से श्रीमहावीरस्वामी की पूजा के लिये दान किया था। यह राष्ट्रकूटवंशी सहुला की पुत्री थी। सभा-मंडप के खम्भे पर चार लेख हैं—१ है, सं०१२३६ कार्तिक वदी २ बुधे कल्हणदेव के राज्य में थंथा के पुत्र रल्हाका और पल्हा ने श्रीपार्श्वनाथजी के लिये दान दिया।

२१. कोरटाः—

सांडेराय से दक्षिण-पश्चिम १६ मील। यहाँ ३ जैन-मन्दिर हैं, जो १४ वीं शताब्दी के हैं।

२२. जालोरः—

नगर ज़ि० जालोर, जोधपुर से दक्षिण ८० मील। यहाँ एक क़िला है, उसमें तोपख़ाना तथा मसजिद है, जो जैन और हिन्दू मन्दिरों के ध्वंसों से बनाई गई है। यहाँ बहुत से लेख हैं व तीन जैन-मन्दिर श्री आदिनाथ, महावीर व पार्श्वनाथ के हैं।

२३. केकिंदः—

मेड़ता से दक्षिण-पश्चिम १४ मील। शिव-मन्दिर के पास एक जैन-मन्दिर श्री पार्श्वनाथ का है। इसके खंभे पर लेख है।

२४. बाड़लूः—

बागोदिया से उत्तर ४ मील, यहाँ १३ वीं शताब्दी का एक श्री पार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर है।

२५. ऊनोतरा:—

वाड़लू से पश्चिम ४ मील, यहाँ भी १३ वीं शताब्दी का एक जैन-मन्दिर है।

२६. सुरपुरा:—

वाड़लू से उत्तर-पूर्व ३ मील। यहाँ श्री नेमिनाथ का जैन-मन्दिर है। लेख १२३९ का है।

२७. नदसर:—

सुरपुरा से उत्तर-पूर्व ६ मील। यहाँ एक प्राचीन जैन-मन्दिर है। १० वीं शताब्दी के आश्चर्यजनक स्तम्भ हैं।

२८. जसोल:—

जि०मल्लानी जोधपुर से दक्षिण-पूर्व ६०. मील। यह लूणी नदी पर है। एक जैनमन्दिर है और एक हिन्दु मन्दिर है, जो जैनमन्दिर के पुराने सामान से बनाया गया है। एक पाषाण जो सभा-मंडप की भींत पर लगा हुआ है, वह खेड़ के जैन-मन्दिर से लाया गया है। उस पर लेख सं० १२४६ है। इस जैन-मन्दिर में दो मूर्तियें श्री सम्भवनाथ की हैं, जिनकी प्रतिष्ठा सहदेव के पुत्र सोनीगर ने कराई थी। यह भानु देवाचार्य गच्छ के श्री महावीर स्वामी के मन्दिर की हैं, जो खेतला पर है। इस जैन-मन्दिर को देवी देहरा कहते हैं। इसमें एक लेख सं० १६५९ रौला विक्रमदेव के राज्य का है।

२९. नगर:—

जासौल से दक्षिण ३ मील। यहाँ तीन जैन-मन्दिर हैं— १ नाकोड़ा पार्श्वनाथ का, २ लासीबाई ओसवाल कृत श्री ऋषभ-

देव का, ३ जैसलमेर के पटवा वंश के सेठ मालासा कृत शान्तिनाथ का यह १३ वीं शताब्दी का है। ऋषभदेव के मन्दिर में ३ लेख हैं।

३०. खेड़:—

नगर से उत्तर ५ मील। यह मल्लाना की राज्यधानी थी। यहाँ रणछोड़जी के मन्दिर में हाते की भीत पर दो जैन मूर्तियाँ लगी हैं, जिनमें एक बैठे व दूसरी खड़े आसन है।

३१. तिवरी:—

ओसिया से दक्षिण १३ मील। यहाँ वहुत से ध्वंस मन्दिर हैं, उनमें एक वड़ा जैन-मन्दिर श्रीमहावीर स्वामी का है। मन्दिर के सामने मानस्तम्भ है। उसके मध्य में ८ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ पद्मासन हैं। नीचे चार खड़े आसन मूर्तियाँ हैं। उसके नीचे ४ बैठे आसन हैं। इस स्तम्भ पर लेख है।

३२. फलौदी:—

यहाँ प्राचीन श्री पार्श्वनाथ का मन्दिर है। यहाँ की मूर्ति एक वृक्ष के नीचे मिली थी। जहाँ एक जैनी की गाय नित्य दूध की धार डाला करती थी।

संक्षेप में प्राचीन जैन मन्दिरों का उल्लेख किया गया है विशेष 'दिगम्बर जैन डिरेक्टरी', 'श्वेताम्बर जैनतीर्थगाइड' और 'राजपूताने के प्राचीन जैन-स्मारक' आदि पुस्तकों में मिलेगा।

नवम्बर सन् ३२

मारवाड़ के जैन राजा

मंडोर के प्रतिहार

मान्य ओझाजी लिखते हैं:—"मण्डोर (जोधपुर से ४ मील) के प्रतिहारों के कितने एक शिलालेख मिले हैं जिनमें से तीन में उनके वंश की उत्पत्ति तथा वंशावली दी है। उनमें से एक जोधपुर शहर के कोट (शहर पनाह) में लगा हुआ मिला, जो मूल में मंडोर के किसी विष्णुमन्दिर में लगा था। यह शिलालेख वि० सं० ८९४ (ई० स० ८३७) चैत्र सुदि ५ का है। दूसरे दो शिलालेख घटियाले (जोधपुर से २० मील उत्तर में) से मिले हैं, जिनमें से एक प्राकृत (महाराष्ट्री) भाषा का श्लोकबद्ध और दूसरा उसी का आशय रूप संस्कृत में है। ये दोनों शिलालेख वि० सं० ९१८ (ई० स० ८६१) चैत्र सुदी २ के हैं। इन तीनों लेखों से पाया जाता है कि "हरिश्चन्द्र" नामक विप्र (ब्राह्मण) जिसको रोहिल्लद्धि भी कहते थे, वेद और शास्त्रों का अर्थ जानने में पारंगत था। उसके दो स्त्रियाँ थीं, एक द्विज (ब्राह्मण) वंश की और दूसरी क्षत्रिय कुल की बड़ी गुणवती थी। ब्राह्मणी से जो पुत्र

उत्पन्न हुये वे ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये और क्षत्रिय वर्ण की रानी भद्रा से जो पुत्र जन्मे वे मद्य पीने वाले हुये। इस प्रकार मंडोर के प्रतिहारों के उन तीनों शिलालेखों से हरिश्चन्द्र का ब्राह्मण एवं किसी राजा का प्रतिहार होना पाया जाता है। उसकी दूसरी रानी भद्रा को राज्ञी लिखा है, जिससे संभव है कि हरिश्चन्द्र के पास जागीर भी हो। उसकी ब्राह्मण वंश की स्त्री के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये। जोधपुर-राज्य में अब तक प्रतिहार ब्राह्मण हैं, जो उसी हरिश्चन्द्र प्रतिहार के वंशज होने चाहिये। उसकी क्षत्रिय वर्ण वाली स्त्री भद्रा के पुत्रों की गणना उस समय की प्रथा के अनुसार मद्य पीने वालों अर्थात् क्षत्रियों में हुई। मंडोर के प्रतिहारों की नामावली उनके उपर्युक्त शिलालेखों में नीचे लिखे अनुसार मिलती हैं:—

१. हरिश्चन्द्र (रोहिल्लद्धि)

प्रारम्भ में किसी राजा का प्रतिहार था। उसकी राणी भद्रा से, जो क्षत्रिय वंश की थी, चार पुत्र भोगभट, कक्क, रज्जिल और दद्द हुए, उन्होंने अपने बाहु बल से माँडव्यपुर (मंडोर) का दुर्ग (क़िला) लेकर वहाँ ऊँचा प्राकार (कोट) बनवाया।

२. रज्जिल

(सं० १ का ज्येष्ठ पुत्र)

३. नरभट

(सं०२ का पुत्र) इसकी वीरता के कारण इसको 'पेल्लापेल्लि' कहते थे।

४. नागभट

(सं० ३ का पुत्र) इसको नाहड़ भी कहते थे। इसने मेडंतकपुर (मेड़ता, जोधपुर राज्य में) में अपनी राजधानी स्थिर की। उसकी राणी जज्जिकादेवी के दो पुत्र तात और भोज हुए।

५. तात
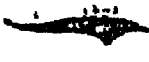
(सं० ४ का पुत्र) इसने जीवन को बिजली के समान चंचल जान कर अपना राज्य अपने छोटे भाई को दे दिया और आप माँडव्य के पवित्र आश्रम में जाकर धर्माचरण में प्रवृत्त हुआ।

६. भोज

(सं० ५ का छोटा भाई)

७. यशोवर्द्धन

(सं० ६ का पुत्र)

८. चंदुक

(सं० ७ का पुत्र)

९. शीलुक

(सं० ८ का पुत्र) इसने त्रवणी और वल्ल देशों में अपनी सीमा स्थिर की, अर्थात् उनको अपने राज्य में मिलाया और वल्ल मंडल (वल्लदेश) के स्वामी भट्टिक (भाटी) देवराज को पृथ्वी पर पछाड़ कर उसका छत्र छीन लिया।

१०. भोट

(सं० ९ का पुत्र) इसने राज्य-सुख भोगने के पीछे गंगा में मुक्ति पाई।

११. भिल्लादित्य

(सं० १० का पुत्र) इसने युवावस्था में राज्य किया, फिर अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप कर वह गंगा-द्वार (हरिद्वार) को चला गया जहाँ १८ वर्ष रहा और अन्त में उसने अनशन व्रत से शरीर छोड़ा।

१२. कक्क

(सं० ११ का पुत्र) इसने मुद्गगिरि (मुँगेर, बिहार में) में गौड़ों के साथ की लड़ाई में यश पाया। वह व्याकरण, ज्योतिष, तर्क (न्याय) और सर्व भाषाओं के कवित्व में निपुण था। उस की भट्टि (भाटी) वंश की महारानी पद्मिनी से बाउक और दूसरी राणी दुर्लभदेवी से कक्कुक का जन्म हुआ। इसका उत्तराधिकारी बाउक हुआ। कक्क रघुवंशी प्रतिहार राजा वत्सराज का सामंत होना चाहिये, क्योंकि गौड़ों के साथ की लड़ाई में उसके यश पाने के उल्लेख से यही पाया जाता है कि जब वत्सराज ने गौड़ देश के राजा को परास्त कर उसकी राज्यलक्ष्मी और दो श्वेत छत्र छीने, उस समय कक्क उसका सामन्त होने से उसके साथ लड़ने को गया।

१३. बाउक—

(सं० १२ का पुत्र) जब शत्रुओं का अतुल सैन्य नंदावल्ल को मार कर भूअक्रूप में आगया और अपने पक्ष वाले द्विज नृप-कुल के प्रतिहार भाग निकले, तथा अपना मंत्री एवं छोटा भाई भी छोड़ भागा, उस समय उस राणा (राणा बाउक) ने घोड़े से उतर कर अपनी तलवार उठाई। फिर जब नवों मंडलों के सभी समुदाय भाग निकले और अपने शत्रु राजा मयूर को एवं उसके मनुष्य (सैनिक) रूपी मृगों को मार गिराया, तब उसने अपनी तलवार म्यान में की। वि० सं० ८९४ की ऊपर लिखी हुई जोधपुर की प्रशस्ति इसी ने खुदवाई थी।

१४. कक्कुक—

(सं० १३ का भाई) घटियाले से मिले हुये वि० सं० ९१८ के दोनों शिलालेख इसी के हैं। जिनसे पाया जाता है कि उसने अपने सच्चरित्र से मरु, माड, वल्ल, तमणी (त्रवणी), अज्ज, (आर्य) एवं गुर्जरत्रा के लोगों का अनुराग प्राप्त किया, वडणाणय मंडल में पहाड़ पर की पल्लियों (पीलों, भीलों के गाँवों) को जलाया, रोहिन्सकूप (घटियाले) के निकट गाँव में हट्ट (हाट, बाजार) बनवा कर महाजनों को बसाया और मण्डोअर (मंडोर) तथा रोहिन्सकूप गाँवों में जयस्तम्भ स्थापित किये। कक्कुक न्यायी, प्रजापालक एवं विद्वान् था† "।

---

† राजपूताने का इतिहास पहली जिल्द पृ० १४७-१५२।

यद्यपि मान्य ओझाजी के उक्त लेख से स्पष्टतया इन प्रतिहार राजाओं का जैनधर्मी होना प्रकट नहीं होता, अपितु वेद-पाठी हरिश्चन्द्र ब्राह्मण इन राजाओं का मूल पुरुष था, इससे तो यह सब जैनेतर ही प्रकट होते हैं किन्तु विद्वद्रत्न प्रख्यात् पुरातत्त्व वेत्ता पं० रामकरणजी ने (जिन्होंने कि उक्त शिलालेखों का वाचन किया है) मार्च सन् १९१४ में जोधपुर में होने वाले जैन-साहित्य-सम्मेलन में "मारवाड़ के सब से प्राचीन शिलालेख" शीर्षक निवन्ध पढ़ा था, उससे प्रकट होता है कि कक्कुक (१४ वाँ) राजा जैन था। इससे पहिले के राजा किस धर्म के अनुयायी थे। इसका स्पष्टीकरण पं० रामकरणजी के लेख से भी नहीं होता। क्योंकि आपने केवल कक्कुक के सम्बन्ध में ही लेख पढ़ा था। फिर भी अनशन व्रत करने और राज्य त्यागने का कई राजाओं का उक्त लेख में वर्णन मिलने से मालूम होता है कि इस वंश ने किसी जैनाचार्य द्वारा जैनधर्म की दीक्षा लेली होगी। पाठकों के अवलोकनार्थ विद्वद्वर्य्य पं० रामकरणजी के उक्त लेख को यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है:—

"जैन सम्बन्धी सब से प्राचीन शिला-लेख गांव घटियाला में, जो जोधपुर से पश्चिम की ओर है, विक्रमी संवत् ९१८ (ई० स० ८६१) का मिला है। इस शिलालेख की भाषा प्राकृत है, इस के उन्नीसवें पद्य में नक्षत्र वारादि सहित संवत् लिखकर, उस के आगे, जिन-मन्दिर बनाने वाले प्रतीहार कक्कुक महाराज के कई उत्तम कार्यों का कथन कर, कक्कुक का जिन-मन्दिर बनाना

और उसको धनेश्वर गच्छ के समर्पण करना लिखा है। यह कक्कुक, नाहडराव इस नाम से प्रसिद्ध नागभट का वंशज था, जिस का समय सातवीं शताब्दी होना चाहिये। कक्कुक के शिला-लेख में संवत्सर और जिनचैत्य विषयक ये गाथा है:—

†"वरिससएसु अ णवसुं अट्ठारहसमग्गलेसु चेत्तम्मि।
णक्खत्ते विहुहत्थे बुहवारे धवलबीआए॥ [१६]"
तेश सिरिकक्कुएणं जिणस्स देवस्स दुरिअणिद्दलणं।
कारविअं अचलमिमं भवणं भत्तीए सुहजणयं॥ [२२]"
अप्पिअमेअं भवणं सिद्धस्स धणेसरस्स गच्छम्मि॥"

भावार्थ :—विक्रम संवत् ९१८ (ई०सन् ८६१) के चैत्र सुदी द्वितीया बुधवार को हस्तनक्षत्र में जिनराज का यह कल्याणकारी दृढ़ मन्दिर श्री कक्कुक महाराज ने भक्तिभाव से करवाया, जिस से पाप का नाश हो।

यह शिला-लेख प्रतीहार (पडिहार कक्कुक ने अपनी कीर्ति चिरस्थायनी रहने के लिये जिनराज के मन्दिर में लगवाया था। इसी कक्कुक महराज का दूसरा शिला-लेख उसी संवत् का उसी स्थान

---

† " वर्षशतेषु च नवसु अष्टादशसमग्रें लेषु चैत्रे।
नक्षत्रे विधुहस्ते बुधवारे धवल द्वितीयायाम्॥
तेन श्रीकक्कुकेन जिनस्य देवस्य दुरितनिर्दलनम्।
कारापितमचलमिदं भवनं भक्त्या शुभजनकम्।
अर्पितमेतद्भवनं सिद्धस्य धनेश्वरस्य गच्छे॥

में मिला है, उस से पाया जाता है कि यह राजा जैनी ही नहीं था, किन्तु विद्वान् भी था। क्योंकि इस शिला-लेख के अन्त में एक श्लोक लिखकर उसके आगे लिखा है कि यह श्लोक स्वयं कक्कुक महाराज ने बनाया है:—

"यौवने विविधैर्भोगैर्मध्यमं चन्वयः श्रिया।
वद्धभावश्च धर्मेण यस्य याति स पुण्यवान् ॥"

भावार्थ:—जिसकी युवा अवस्था नाना प्रकार के भोग भोगने में, और मध्यम वय धन उपार्जन करने में तथा वृद्धावस्था धर्मध्यान में व्यतीत होवे, वही पुण्यवान् पुरुष है। यह श्लोक श्री कक्कुक ने स्वयं रचा है।

पहला शिला-लेख प्राकृत भाषा में है, जिस से यह सूचित होता कि उस समय के विद्वान् केवल प्राकृत भाषा के ही पण्डित नहीं थे, किन्तु उनको जैन-धर्म का पूर्ण अभिमान भी था। और दूसरे शिलालेख के अन्तिम श्लोक से यह बोधित होता है कि महाराज कक्कुक केवल विद्वान ही नहीं थे, किन्तु नीतिनिपुण और धर्मानुरागी भी थे।"

[१५ जनवरी सन् २३]

मारवाड़ के जैन राठौड़ राजा

कन्नौज के अन्तिम राजा गहड़वाल राजा जयचन्द्र के वंशजों के राजपूताने में आने के पहले भी हस्तिकुण्डी (हँथूड़ी, जोधपुर राज्य) में और धनोप (शाहपुर राज्य) में राष्ट्रकूटों के राज्य होने के प्रमाण मिलते हैं। वि० सं० १०५३ (ई० सन् ९९७) का एक लेख बीजापुर से मिला है। यह स्थान जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ के परगने में है। इस शिलालेख का वाचन भी विद्वद्वर्य पं० रामकरणजी ने किया है और वह शुद्ध करके उन्होंने "एपिग्राफि-काइण्डिका" में दुबारा छपवा दिया है। आप लिखते हैं:—

१. हरिवर्मन:—

"यह शिलालेख कहता है कि हस्तिकुंडीनगरी में हरिवर्मन के पुत्र

२. विदग्धराज:—

ने विक्रमी संवत् ९७३ (ई० स० ९१६) में केशवसूरि की सन्तान में जो वासुदेवाचार्य हुए, उनके उपदेश से जिनराज का मन्दिर बनवाया और पूजा का निर्वाह होने के लिये कई लागें लगादीं। इस विषय के उसमें ये पद्य हैं:—

(पं०३) "रिपुवधुवदनेन्दुहृतद्युतिः समुदपादि विदग्धनृपस्ततः [५ *]

स्वाचार्यैर्यो रुचिरवच [नैर्वा] सुदेवाभिधानै-

र्बो (र्बो) धं नीतो दिनकर करै र्नीरजन्माकरो व ।

पूर्व जैनं निजमिव यशोऽकारयद्धस्तिकुण्डयां ।

रम्यं हर्म्यं गुरुहिमगिरेः शृङ्गशृङ्गारहारी ॥ [६ *]

भावार्थः—राष्ट्रकूट (राठौड़) विदग्धराज ने श्री वासुदेवाचार्य के उपदेश से हस्तिकुण्डी नगरी में जिनराज का मन्दिर करवाया।

इस जिन-मन्दिर के निमित्त जो दान दिया गया था, उसके वर्णन के अनन्तर ३० वीं पंक्ति में दान का समय कहा है:—

(पं ३०) "रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे ।

श्री मद्बलभद्रगुरोर्विदग्धराजेन दत्तमिदम् ॥"

भावार्थः—विदग्धराज ने वि० सं० ९७३ में श्रीवलभद्र आचार्य को उक्त दान दिया ।

२. मम्मटः—

फिर वि० सं० ९९६ (ई०सन्९३९) में उसके पुत्र मम्मट ने उस दान का समर्थन करदिया कि पीछे से उस में कुछ हानि न हो । इस विषय का यह पद्य है:—

(पं ३१) "नवसु शतेषु गतेषु तु षण्णवतीसमधिकेषु माघस्य ।
कृष्णैकादश्यामिह समर्थितं मम्मटनृपेण ॥"

भावार्थः—वि० सं० ९९६ के माघवदि ११ को मम्मट राजा ने उक्त दान का समर्थन किया ।

४. धवलः—

मम्मट के पुत्र धवलराज ने वि० सं० १०५३ (ई० स० ९९६) में उक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार किया और मन्दिर में श्रीऋषभदेव की नई मूर्ति स्थापित की और महाध्वज चढ़ाया । और मन्दिर की आमदनी में कुछ और वृद्धि कर अन्त में अपने पुत्र बालाप्रसाद को युवराज पदवी दे, आप विरक्त हो राजकार्य से अलग होगया ।"

उक्त शिलालेख में १० काव्यों में धवलराज के यश और शौर्यादि गुणों का वर्णन किया गया है । १०वें श्लोक में उल्लेख है कि मालवा के परमार राजा मुञ्ज ने जिस समय मेदपाट (मेवाड़) राज्य के आघाट स्थान पर आक्रमण किया, उस समय यह उससे लड़ा था और साम्भर के चौहान राजा दुर्लभराज से नाडौल के चौहान राजा महेन्द्र की रक्षा की थी, तथा अनहिलवाड़ा (गुजरात) के सोलंकी राजा मूलराज द्वारा नष्ट होते हुये धरणीवराह को आश्रय दिया था । यह धरणीवराह शायद मारवाड़ का पड़िहार राजा होगा ।

५ वालाप्रसाद—

इस का इस शिलालेख में विशेष वर्णन नहीं मिलता। उपरोक्त विवरण संक्षेप में दिया गया है। इस शिलालेख की नक़ल "प्राचीन जैन-लेख-संग्रह" में अंकित है।

[१६ जनवरी सन् ३१]

जोधपुर-राजवंश के जैन-वीर

राष्ट्रवर (राठौड़) राव सीहोजी के पुत्र आयस्थानजी ने कन्नोज से संवत् १२३३ में मारवाड़ में आकर परगने मालानी के गाँव के खेड़ में संवत् १२३७ में अपना राज्य स्थापित किया, उस समय ३४० गाँव उनके आधीन थे।

आयस्थानजी के पुत्र धुहड़जी संवत् १२६१ में राज्य के उत्तराधिकारी हुये।

धुहड़जी के पुत्र रायपालजी संवत् १२८५ में सिंहासनारूढ़ हुए।

रायपालजी के तेरह पुत्र थे, उनमें से ज्येष्ठ पुत्र राव कानपाल जी तो राज्य के अधिपति हुये और चतुर्थ पुत्र मोहणजी थे, उन का प्रथम विवाह जैसलमेर के भाटी जोरावरसिंहजी की पुत्री से हुआ, जिससे कुँवर भीमराजजी पैदा हुये, उनके वंश के भीमावत राठौड़ कहलाते हैं।

बाद में मोहणजी ने जैनधर्म के उपदेशक शिवसेन ऋषीश्वर के उपदेश से जैनधर्म का अवलम्बन कर, दूसरा विवाह परगने भीनमाल के गाँव पञ्चपदरिये में ओसवाल जाति के श्रीश्रीमाल

जीवणोत छाजूजी की कन्या से किया, जिससे सम्पत्ति सेन (सपटसेन) जी उत्पन्न हुये।

सम्पत्तिसेनजी ने भी अपने पिता के तुल्य संवत् १३५१ के कार्तिक सुदी १३ को जैनधर्म का उपदेश लिया, उनके वंश के मोहणोत ओसवाल कहलाते हैं। जिनका संक्षेपतया विवरण निम्न लिखित है :—

१. मेहता महाराजजी:—

यह मोहणजी की ९ वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुये। राव जोधाजी के साथ संवत् १५१५ में मंडोर से जोधपुर आये, दीवानगी तथा प्रधानगी का कार्य किया। संवत् १५२६ में महाराजा ने प्रसन्न हो कर इनके रहने के लिये फ़तहपोल के समीप एक हवेली बनवादी।

२. मेहता रायचन्द्रजी:—

मोहणजी की २० वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुये। मरुधराधीश राजा शूरसिंहजी के कनिष्ठ भ्राता कृष्णसिंहजी को जागीर में सोजत परगने के दूदोड़ आदि १२ गाँवों का पट्टा मिला और संवत् १६५२ में इन्होंने अपने पट्टे के गाँव दूदोड़ में रिहास अख़्तियार करली। फिर संवत् १६५४ में अजमेर के सूबेदार नव्वाब मुरादअली के द्वारा बादशाह अकबर की सेवा में पहुँचे। बादशाह ने प्रसन्न होकर संवत् १६५५ में हिंडोन आदि सात परगने प्रदान किये। संवत् १६५८ में महाराज कृष्णसिंहजी ने अपने नाम से एक नूतन नगर बसाकर उसका नाम कृष्णगढ़ रक्खा। जब महा-

राज कृष्णसिंहजी ने जोधपुर से प्रस्थान किया तब मेहता रायचन्द्र जी तथा उनके कनिष्ट भ्राता शंकरमणिजी भी उनके साथ थे। इन दोनों भाइयों के कार्यों से प्रसन्न होकर महाराजा साहब ने मेहता रायचन्द्रजी को अपना मुख्य मंत्री नियत किया और दोनों भाइयों के रहने के लिये दो बड़ी बड़ी हवेलियाँ बनवादीं, जो कि बड़ी पौल और छोटी पौल के नाम से अभी तक प्रसिद्ध हैं।

मेहता रायचन्द्रजी ने एक जैन-मन्दिर श्री चिन्तामणि पार्श्व-नाथ का संवत् १६७० में बनवाना प्रारम्भ किया और संवत् १६७२ में उसकी प्रतिष्ठा कराई। वह मन्दिर कृष्णगढ़ में अब तक विद्यमान है।

कृष्णगढ़ाधीश महाराज मानसिंहजी अपने कुल क्रमांगत वृद्ध तथा अनुभवी मुख्य मंत्री मेहता रायचन्द्रजी से अत्यन्त प्रसन्न थे। संवत् १७१६ के एक महोत्सव पर इनकी हवेली में पधार कर महाराज ने भोजन करके इनका गौरव बढ़ाया था और इसके एक वर्ष पश्चात् पालड़ी नामक ग्राम पारितोषक रूप में दिया था। संवत् १७२३ में मेहताजो का स्वर्गवास हुआ।

३. मेहता वृद्धमानजी:—

(मोहणजी की २१ वीं पीढ़ी में उत्पन्न). यह महाराज श्री-मानसिंहजी के तन दीवान (प्राईवेट सेक्रेटरी) थे। इस कारण हर समय उनके साथ रहते थे। संवत् १७६५ में स्वर्गासीन हुए।

४. मेहता कृष्णदासजी:—

(मोहणजी की २२ वीं पीढ़ी में उत्पन्न) यह महाराज मान

सिंहजी के मुख्य मंत्री थे। महाराजा तो विशेषतया देहली रहते थे, इस कारण राज्य के सब कार्य इन्हीं के अधिकार में थे। सं० १७५० में "बुहारू" गाँव इनको मिला। सं० १७५६ में नव्वाब अब्दुल्लाखाँ जब कृष्णगढ़ में बादशाही थाना जमाने को फौज ले कर चढ़ आया, तब इन्होंने उसके साथ युद्ध करके उसे पराजित किया। सं० १७६३ में स्वर्गासीन हुये।

५. मेहता आसकरणजी:—

(मोहणजी की २३ वीं पीढ़ी में उत्पन्न) यह महाराज राजसिंहजी के समय सं० १७६५ में मुख्य दीवान नियत किये गये।

६. मेहता देवीचन्द्रजी:—

(मोहणजी की २४ वीं पीढ़ी में उत्पन्न) यह रूपनगर के महाराज सरदारसिंहजी के समय उस राज्य के मुख्य दीवान थे।

७. मेहता चैनसिंहजी:—

(मोहणजी की २५ वीं पीढ़ी में उत्पन्न) यह महाराज प्रतापसिंहजी के समय आषाढ़ शुक्ला ७ संवत् १८५३ में कृष्णगढ़-राज्य के मुख्य दीवान नियत हुये और महाराज कल्याणसिंहजी के शासनकाल में आजीवन दीवान रहे। यह सच्चे स्वामी तथा देश भक्त थे। एक बार महाराजा प्रतापसिंह ने प्रसन्न होकर कहा था "चैन बिना सब चोर मुसद्दी" यह कहावत उस राज्य में अब तक प्रसिद्ध है। इनकी दीवानगी के समय में मरहटों ने उक्त राज्य पर अनेक आक्रमण किये। किन्तु इनकी वीरता और राजनीति के

सामने उन्हें हमेशा मुँह की खानी पड़ी। सं० १८६१ में स्वर्गासीन हुये।

८. मेहता अचलोजीः—

(मोहणजी की १८ वीं पीढ़ी में उत्पन्न महता अर्जुनजी के बड़े भाई) राव चन्द्रसेनजी पौष सुदी ६ सं० १६१९ को जोधपुर के राज्य-सिंहासन पर बैठे। तब इन्होंने राज्य का काम किया। अनेक युद्धों में जोधपुर नरेश के साथ रहे। महाराजा साहब के डूंगरपुर से जोधपुर आते समय सोजत परगने के सवराड़ गाँव में मुगलों से लड़ाई हुई, इस युद्ध में भी यह साथ थे। श्रावण वदी ११ सं० १६३५ में युद्ध में लड़ते हुये वीर-गति को प्राप्त हुये। इन की पवित्र स्मृति में राज्य की ओर से छत्री बनवाई गई जो कि अब तक मौजूद है।

९. मेहता जयमल्लजीः—

(अचलोजी के पौत्र) संवत् १६७१ व सं० १६७२ में महाराज सूरसिंहजी के राज्य में गुजरात में बड़नगर के सूबेदार रहे। सं० १६७२ में ही फलौदी पर अधिकार होने पर वहाँ के हाकिम नियत हुये। सं० १६७४ में जहाँगीर बादशाह ने बीकानेर के राजा सूरत-सिंह को फलौदी का परगना (जो जोधपुर के अधिकार में था) दे दिया। तब अपना अधिकार जमाने के लिये जो बीकानेर-राज्य ने सेना भेजी थी, उससे इन्होंने युद्ध करके उसे भगादिया और फलौदी पर उनका अधिकार नहीं होने दिया। सं० १६७९ के भाद्रपद सुदी १० को महाराज गजसिंहजी ने जालोर परगने पर अपना अधि-

कार किया, उस समय यह भी उनके साथ थे। अतएव जालोर की हुकूमत प्रथम इन्हीं को मिली। सं० १६८१ में जालोर, शतरुँजा, सांचारे, मेड़ता और सिवाना में इन्होंने जैनमन्दिर बनवाये। इसी वर्ष महाराज गजसिंहजी जब जहाँगीर की सहायता के लिये हाजीपुर पटना की ओर गये थे, तब यह उनके साथ फौजमुसाहिब होकर गये थे। सं० १६८६ से १६९० तक दीवान पद पर प्रतिष्ठित रहे। संवत् १६८७ में एक वर्ष तक अकाल पीड़ितों का १ वर्ष तक भरण-पोषण किया। सं० १६८९ में सिरोही के राव अखेराजजी पर एक लक्ष पीरोजों (एक प्रकार की मुद्रा) की पेशकशी (दण्ड) ठहराई, जिसमें ७५०००) तो रोकड़ा लिये और २५०००) बाक़ी रक्खे।

१०. मेहता नैणसी:—

श्रद्धेय ओझाजी लिखते हैं:—"जयमल की दो स्त्रियाँ बड़ी सरूपदे और छोटी सुहागदे थीं। सरूपदे से नैणसी, सुन्दरदास, आसकरण, और नरसिंहदास ये चार पुत्र हुए, और सुहागदे से जगमाल।

नैणसी का जन्म संवत् १६६७ मार्गशीर्ष सुदी ४ शुक्रवार को हुआ था। वि० सं० १७१४ में जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह (प्रथम) ने नैणसी को अपना दीवान बनाया था। कई वर्षों तक राज्य की सेवा करके विशेष अनुभव प्राप्त किये हुए बुद्धिमान् पुरुष का जोधपुर जैसे बड़े राज्य का दीवान बनाया जाना उचित

ही था। इसलिये दीवान बनने के समय नैणसी की अवस्था ४७ वर्ष की थी।

मेहता नैणसी भी जोधपुर राज्य की सेवा में रहा, और वीर प्रकृति का पुरुष होने के कारण, वि० सं० १६८९ में मगरा के मेरों का उपद्रव बढ़ता देखकर महाराज गजसिंह ने मेरों को सजा देने के लिये उसको सेना सहित भेजा। उसने मेरों को सजा दी और उनके गाँव जलाये। वि० सं० १७०० में महेचा महेसदास बागी होकर राड़धरे के गाँवों में बिगाड़ करता रहा, जिस पर महाराज जसवन्तसिंह ने नैसणी को राड़धरे भेजा। उसने राड़धरे को विजय कर वहाँ के कोट (शहरपनाह) और मकानों को गिरवा दिया, तथा महेचा महेसदास को वहाँ से निकाल कर राड़धरा अपनी फ़ौज के मुखिया रावत जगमाल भारमलोत (भारमल के पुत्र) को दिया। सं० १७०२ में रावत नराण (नारायण) सोजत की ओर के गाँवों को लूटता था, जिससे महाराज ने मुहणोत नैणसी तथा उसके भाई सुन्दरदास को उस पर भेजा। उन्होंने कूकड़ा, कोट, कराणा, मांकड़ आदि गाँवों को नष्ट कर दिया। वि० सं० १७१४ में महाराज जसवंतसिंह (प्रथम) ने मियाँ फिरासत की जगह नैणसी को अपना दीवान बनाया। महाराज जसवन्त-सिंह और औरंगजेब के बीच अनबन होने के कारण वि० सं० १७१५ में जैसलमेर के रावल सबलसिंह ने फलोदी और पोकरण ज़िलों के १० गाँव लूटे, जिससे महाराज ने अहमदाबाद जाते हुए, मार्ग से ही मुहणोत नैणसी को जैसलमेर पर चढ़ाई करने की

आज्ञा दी। इसपर वह जोधपुर आया और वहाँ से सैन्य सहित चढ़कर उसने पोहकरण में डेरा डाला। इसपर सबलसिंह का पुत्र अमरसिंह, जो पोहकरण ज़िले के गावों में था, भाग कर जैसलमेर चला गया। नैणसी ने उसका पीछा किया और जैसलमेर के २५ गाँव जला कर, जैसलमेर से तीन कोस की दूरी के गाँव वासणपी में वह जा ठहरा। परन्तु जब रावल क़िला छोड़ कर लड़ने को न आये, तब नैणसी आसणी कोट को लूटकर लौट गया।

वि० सं० १७११ में पंचोली बलभद्र राघोदासोत (राघोदास-का पुत्र) की जगह नैणसी का छोटा भाई सुन्दरदास महाराज-जसवन्तसिंह का खानगी दीवान नियत हुआ। वि० सं० १७१३ में सिंघलवाघ पर महाराज जसवंतसिंह ने फौज भेजी। उस समय वाघ ४०१ राजपूतों के साथ लड़ने को सुसज्जित होकर बैठा था। महाराज की फौज में ६९१५ पैदल थे, जिनके दो विभाग किये गये। एक विभाग का, जिस में ३५४३ सैनिक थे, अध्यक्ष राठौड़ लखधीर विट्ठलदासोत (विट्ठलदास का बेटा) था। दूसरे विभाग के, जिस में ३३७२ सैनिक थे, अध्यक्षों में मुख्य मुहणोत सुन्दरदास था। सिंगलों से लड़ाई हुई, जिसमें बहुत से आदमी मारे गये, और महाराज की विजय हुई। वि० सं० १७२० में महाराज जसवन्त-सिंह की सेना ने बादशाह औरंगज़ेब की तरफ़ से प्रसिद्ध मराठा वीर शिवाजी के आधीन के गढ़ कुँडाँणे पर चढ़ाई कर गढ़ पर मोरचे लगाये। इस चढ़ाई में सुन्दरदास जयमलोत मरना निश्चय कर लड़ने को गया था, परन्तु गढ़ वालों के अरावों की मार से

महाराज को अपनी फौज वापिस लेनी पड़ी।

संवत् १७२३ में महाराज जसवन्तसिंह औरंगाबाद में थे और मुहणोत नैणसी तथा उसका भाई सुन्दरदास दोनों उसके साथ थे। किसी कारण वशात् महाराज उनसे अप्रसन्न हो रहे थे, जिससे पौष सुदी ९ के दिन दोनों को क़ैद कर दिया। महाराज के अप्रसन्न होने का ठीक कारण ज्ञात नहीं हुआ। परन्तु जन-श्रुति से पाया जाता है कि नैणसी ने अपने रिश्तेदारों को बड़े २ पदों पर नियत कर दिया था और वे लोग अपने स्वार्थ के लिये प्रजा पर अत्याचार किया करते थे। इसी बात के जानने पर महाराज उससे अप्रसन्न होरहे थे।

वि० सं० १७२५ में महाराज ने एक लाख रुपये दण्ड लगाकर उन दोनों भाइयों को छोड़ दिया; परन्तु इन्होंने एक पैसा तक देना स्वीकार नहीं किया। इस विषय के नीचे लिखे हुये दोहे राजपूताने में अब तक प्रसिद्ध हैं:—

लाख लखांरा नीपजे, बड़ पीपल री साख।
नटियो मूंतो नैणसी, तांबों देण तलाक ॥१॥
लेसो पीपल लाख, लाख लखांरा लावसो।
तांबों देण तलाक, नटिया सुन्दा नैणसी ॥२॥ *

नैणसी और सुन्दरदास के दण्ड के रुपये देना अस्वीकार

* लखांरा=लखेरां के यहां, साख=शाखा, नटिया=नटगाया, तांबों=तांबा का एक पैसा देण=देना, तलाक=अस्वीकार किया, लेसो=लोगे, लावसो=लाओगे

करने पर वि० सं० १७२६ माघ वदी १ को फिर वे दोनों क़ैद कर दिये गये और उन पर रुपयों के लिये सख्तियाँ होती रहीं। फिर क़ैद की ही हालत में इन दोनों को महाराज ने औरंगाबाद से मारवाड़ को भेज दिया। दोनों वीर प्रकृति के पुरुष होने के कारण इन्होंने महाराज के छोटे आदमियों की सख्तियाँ सहन करने की अपेक्षा वीरता से मरना उचित समझा। वि० सं० १७२७ की भाद्रपद वदी १३ को इन्होंने अपने२ पेट में कटार मारकर मार्ग में ही शरीरांत करदिया। इस प्रकार महापुरुष नैणसी की जीवन लीला का अंत हुआ और महाराज की बहुत कुछ बदनामी हुई।

नैणसी के पुत्र और पौत्र

नैणसी और सुन्दरदास के इस प्रकार वीरता के साथ प्राणोत्सर्ग करने की ख़बर जब महाराज को हुई, तब उन्होंने नैणसी के पुत्र करमसी और उसके अन्य बालबच्चों को जो क़ैद किये गये थे, छुड़वा दिया। महाराज के अत्याचार को स्मरण कर वे लोग जोधपुर छोड़कर नागौर के स्वामी रामसिंह के पास चले गये। जो जोधपुर के महाराज गजसिंह के पौत्र और बादशाह शाहजहां के दरबार में सलाबतख़ाँ को मारने वाले प्रसिद्ध वीर राठौर अमरसिंह के पुत्र थे। रायसिंह ने अपने ठिकाने का सारा काम करमसी के सुपुर्द करदिया। इस पर महाराज ने मुहणोतों को जोधपुर राज्य की सेवा में नियत न करने की शपथ खाई। परन्तु उनकी प्रतिज्ञा का पीछे से पालन न हुआ। क्योंकि पीछे भी महाराज बखतसिंह

मानसिंह आदि के समय में मुहणोत वंशी मुसाहिब रहे हैं।

महाराज रायसिंह वि०सं० १७३२ आषाढ़ वदी १२ को दक्षिण के गाँव सोलापुर में दो चार घड़ी बीमार रहकर अचानक मरगये। तब उनके मुत्सद्दियों आदि ने उनके गुजराती वैद्य से पूछा कि रायसिंह अचानक कैसे मरगये ? इस पर उसने गुजराती भाषा में उत्तर दिया —"करमां नो दोष छे" (भाग्य का दोष है) जिस का अर्थ रायसिंह के मुसाहिबों ने यह समझा कि "करमा"(करमसी) ने इनको मारा है" फिर उस (करमसी) पर विष देने का झूठा सन्देह कर उसको वहीं जिन्दा दीवार में चुनवा दिया गया; और नागौर लिखा गया कि इसके जो कुटम्बी वहां हैं, उन सब को कोल्हू में डालकर कुचल डालना। इस हुक्म के पहुँचने पर करमसी पुत्र परतापसी अपने कई रिश्तेदारों के साथ मारा गया और करमसी की दो स्त्रियों ने अपने पुत्र सावंतसिंह के साथ भाग कर किशनगढ़ (कृष्णगढ़, राजपूताना) में शरण ली। फिर वहाँ से वे लोग बीकानेर में जा रहे।

नैणसी के ग्रन्थ

मुहणोत नैणसी जैसा वीर प्रकृति का पुरुष था, वैसा ही विद्यानुरागी, इतिहास प्रेमी और वीर कथाओं पर अनुराग रखने वाला नीति निपुण पुरुष था। उसका मुख्य ऐतिहासिक ग्रन्थ "ख्यात"* नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ रायल अठपेजी हजार

* राजपूताने की भाषा में 'ख्यात' (ख्याति) का अर्थ 'इतिहास' है।

पृष्ठ से अधिक बड़ा और राजपूताने, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, बघेलखंड, और मध्यभारत के इतिहास के लिये विशेष उपयोगी है।

ख्यात-सामग्री

नैणसी की इतिहास पर बड़ी रुचि होने के कारण उसने चारणों, भाटों अनेक प्रसिद्ध पुरुषों, कानूनगो आदि से जो कुछ ऐतिहासिक वृतान्त मिल सका, उससे तथा उस समय से मिलने वाली ख्यातों आदि सामग्री से अपनी ख्यात का संग्रह किया। जोधपुर के दीवान नियत होने के पहिले से ही उसको ऐतिहासिक बातों के संग्रह करने की रुचि थी। और ऐसी प्रतिष्ठित राज्य का दीवान होने के पीछे तो उसको अपने काम में और भी सुभीता रहा होगा। उसने कई जगह पर, जिन जिन से जो कुछ वृत्तांत प्राप्त हुआ, उसका संवत् मास सहित उल्लेख भी किया है॥

नैणसी की ख्यात मुख्यंतः राजपूताने और सामान्य रूप से ऊपर लिखे हुए अन्य देशों के इतिहास का एक बड़ा संग्रह है। उक्त ख्यात में चौहानों, कछवाहों, और भाटियों का इतिहास तो इतने विस्तार के साथ दिया गया है, कि जिसका अन्यत्र कहीं मिलना सर्वथा असम्भव है। वंशावलियों का तो ख्यात में इतना संग्रह है, जो अन्यत्र मिल ही नहीं सकता। उसमें अनेक लड़ाइयों के वर्णन, उनके निश्चित् संवत्, तथा सैंकड़ों वीर पुरुषों के जागीर पाने या लड़कर मारे जाने का संवत् सहित उल्लेख देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि नैणसी जैसे वीर प्रकृति के पुरुष ने

अनेक वीर पुरुषों के स्मारक अपनी पुस्तक में सुरक्षित किये हैं। वि० संवत् १३०० के बाद से नैणसी के समय तक के राजपूतों के इतिहास के लिये तो मुसलमानों की लिखी हुई फारसी तवारीखों से भी नैणसी की ख्यात कहीं— विशेष महत्व की है। राजपूताने के इतिहास में कई जगह जहाँ प्राचीन शोध से प्राप्त सामग्री इतिहास की पूर्ति नहीं कर सकती, वहाँ नैणसी की ख्यात ही कुछ २ सहारा देती है। यह इतिहास एक अपूर्व संग्रह है। स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी तो नैणसी को 'राजपूताने का अब्बुलफजल' कहा करते थे, जो अयुक्त नहीं है। ख्यात की भाषा लगभग २७५ वर्ष पूर्व की मारवाड़ी है, जिस का इस समय ठीक २ समझना भी सुलभ नहीं है। नैणसी ने जगह २ राजाओं के इतिहास के साथ कितने ही लोगों के वर्णन के गीत, दोहे, छप्पय, आदि भी उद्धृत किये हैं, जो डिंगल भाषा में है। उनमें से कुछ ३८० वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। उनका समझना तो कहीं २ और भी कठिन है॥

नैणसी के पौत्र प्रतापसिंह के मारेजाने पर उसके दो भाई सावंतसिंह और संग्रामसिंह अपनी दोनों माताओं सहित किशनगढ़ और वहाँ से बीकानेर जा रहे। नैणसी की लिखी ख्यात भी वे अपने साथ बीकानेर लेगये और सुना जाता है कि नैणसी के वंशजों ने वह मूल पुस्तक (या उसकी नक़ल) बीकानेर को भेंट करदी। कर्नल टॉड के समय तक उस पुस्तक की प्रसिद्धि न हुई। यदि उनको वह पुस्तक मिल जाती, तो अवश्य उनका 'राजस्थान'

दूसरे ही रूप में लिखा जाता। कर्नल टॉड के स्वदेश लौट जाने के बाद आज से अनुमान ८०, ९० वर्ष पूर्व उसकी सुन्दर अक्षरों में लिखी एक प्रति बीकानेर राज्य की तरफ से महाराणा उदयपुर के यहाँ पहुँची; जो वहाँ के राजकीय 'वाणीविलास' नामक पुस्तक में विद्यमान है। उदयपुर के वृहत इतिहास 'वीर विनोद' के लिखे जाने के साथ उक्त पुस्तक का उपयोग कई स्थानों में हुआ। जब मैंने उस का महत्व देखा, तो, अपने लिये उसकी एक प्रति तैयार करने का विचार किया। परन्तु ऐसी बड़ी पुस्तक की नक़ल करना कई महीनों का काम था; और इतने समय के लिये राज्य की ओर से उसका मिलना असम्भव देखकर मैंने जोधपुर के कविराजा मुरारीदानजी को लिखा—"नैणसी की ख्यात की मुझे बड़ी आवश्यकता है। यदि आप कहीं से उसकी प्रति नक़ल करवा भेजें तो बड़ी कृपा होगी।" इसके उत्तर में उन्होंने लिखा—"नैणसी की ख्यात की मूल प्रति बीकानेर दरबार के पुस्तकालय में थी, जहाँ से कर्नल पाउलैट (रेजिडेंट जोधपुर) उसे ले आये। और जिस समय वे स्वदेश लौटने लगे, उस समय मैंने वह प्रति उनसे माँगी; तो कृपाकर उन्होंने वह मुझे बख़्शदी, जो मेरे यहाँ विद्यमान है। उसकी नक़ल कराकर मैं आपके पास भेज दूँगा।" फिर उन्होंने अपने ही व्यय से उसकी नक़ल कराना शुरू किया और ज्यों २ नक़ल होती गई, त्यों २ उसका थोड़ा २ अंश वे मेरे पास भेजते रहे। इस प्रकार जब सारी पुस्तक सं० १९५९ में मेरे पास पहुँच गई, तब मैंने उसका 'वाणी विलास' की प्रति से मिलान

किया, तो दोनों पुस्तकें ठीक मिल गईं। फिर मैंने उसका सूचीपत्र बनाकर उसकी जिल्द बँधवाली। दूसरे वर्ष जब कविराज जी का उदयपुर आना हुआ, तब मैंने वह पुस्तक उनको दिखलाकर उन की इस बड़ी कृपा के लिये उन्हें धन्यवाद दिया।"

(मेहता मोहणोत नेणसी की ख्यात से)

११. मेहता सुन्दरदासजीः—

(जयमलजी के पुत्र) यह महाराज जसवन्तसिंह के तन दीवान (प्राईवेट सेक्रेटरी) सं० १७११ से १७२३ तक रहे।

१२. मेहता करमसीजीः—

(नैणसीजी के पुत्र) महाराज जसवन्तसिंह और औरंगज़ेब का जो उज्जैन के पास मौजे चोरनारायण में इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ था ‡, उस में इन्होंने अत्यन्त वीरता से युद्ध किया और वहाँ यह घायल हुये।

---

‡ इस इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध की एक घटना को लेकर जून सन् २८ में एक छोटीसी कहानी लिखी थी जो "क्षत्राणी का आदर्श" शीर्षक से आगरे के "वीर-सन्देश" भाग २ अंक ११ में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि उक्त कहानी का इस पुस्तक के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है उस में वर्णित-पात्र जैन नहीं है, फिर भी यहाँ प्रसंगवश और शिक्षाप्रद समझ कर दी जा रही है—

शाहजहाँ के दारा, शुजा, औरंगजेब और मुराद ये चार लड़के और जहाँनारा तथा रोशनारा यह दो लड़कियाँ थीं। शाहजहाँ के बीमार पड़ते ही शोणित-लोलुप क्षुभित व्याघ्र की तरह चारों भाई आपस में कट मरे। वह शाहजहाँ के अन्तिम काल तक मयूर-

१३. मेहता बैरसीजी:—

(नं ११ सुन्दरसीजी के पुत्र) यह रूपनगर के महाराज मानसिंह के सं० १७४२ में प्राईवेट सेक्रेटरी रहे।

सिंहासन के लोभ को न दबा सके।

शाहजहाँ के गिड़गिड़ा कर अनुरोध करने पर मारवाड़-केसरी राजा यशवन्तसिंह तीस सहस्र राजपूत-सेना लेकर पितृद्रोही औरंगजेब का आक्रमण रोकने के लिए उज्जैन जा पहुँचे। किन्तु कूटनीतिज्ञ औरंजेब के षड्यन्त्र के सामने उनकी वीरता काम न आई, अन्त में उन्हें रणक्षेत्र का परित्याग करना पड़ा।

राजा यशवन्तसिंह का शिशोदिया राजकुमारी के गर्भ से जन्म हुआ था और शिशोदिया कुल की एक वीर-बाला के साथ विवाह हुआ था। पवित्र शिशोदिया-कुल में विवाह कर पाने पर राजपूत राजा अपने को पवित्र और कृतार्थ समझते थे। राजा यशवन्तसिंह की स्त्री जैसे ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार ऊँचे गुणों और अलंकारों से विभूषित थी। जब उसने उज्जैन के युद्ध का वृतान्त सुना कि उसके पति की प्रायः समस्त सेना नष्ट हो गई है और वह शत्रु का पराजय न कर रण-भूमि से चला आया है। तब उसको विषम क्रोध और दारुण दुःख हुआ। वह मारे आत्मग्लानि के रो पड़ी और उसी आवेश में सोचने लगी:—

"न जाने मेरे कौन से पापकर्म का उदय है, जो मुझे ऐसा क्षत्रिय कुल-कलंकी पति मिला। अच्छा होता जो मैं विवाही न जाती, कायरपत्नि तो न कहलाती। विषपान करलूंगी, जीते जी

१४. मेहता संग्रामसिंहजीः—

(नं० १२ करमसीजी के पुत्र) इन्होंने मारवाड़ाधीश अजीत-सिंह्जी के राज्यकाल सं १७८२ में, मारोठ, परवंतसर आदि सात परगनों की हुकूमत की।

आग में कूद कर प्राण दे दूंगी किन्तु कायर-पत्नि न कहलाऊँगी। जब कि मेरे पूर्वज, शरीर में रक्त की एक बून्द रहने तक, शत्रुओं का मान मर्दन करते रहे हैं। तब मेरा पति शत्रु के भय से भाग कर आवे और मैं उसे छुपा लूं? वीर-दुहिता होकर कायर-पत्नी कहलाऊँ? लोग क्या कहेंगे? सहेलियाँ ताना मारेंगी और पिता जी तो मेरा मुँह देखना भी पाप समझेंगे। ओह! हृदय में कैसी २ उमंगें थीं। विजयी होकर आयेंगे, आरता उतारूँगी, उनकी चरण-रज लेकर सुहाग की चूनरी में बाँधूगी, तलवार का रक्त लेकर मँहदी रचाऊँगी, उनके जख्मों को अपने हाथ से धोऊँगी, उनके शत्रु-संहार-रण-कौशल को सुनकर मैं आपे में न रहूँगी; मारे गर्व के मेरी छाती फूल उठेगी। दोनों मिलकर मातृ-भूमि की वन्दना करेंगे। किन्तु यह सब स्वप्न था, जो अन्धेरी रात्रि के सन्नाटे में देखा गया था। आह! युद्ध-भूमि में वीर-गति को भी प्राप्त न हुए, नहीं तो साथ में सती होकर जीवन सुधार लेती।"

रोते-रोते शिशोदिया राजकुमारी के मुखमण्डल ने भयावनी मूर्ति धारण करली। वह सर्पणी के समान फुफकार कर बूढ़े द्वार-पाल से बोली "मैं कायर पति का मुँह देखना नहीं चाहती। इस वीर-प्रसवा भूमि में रण से भयभीत मनुष्य को आने का अधिकार

१५. मेहता सावंतसिंहजी:—

(नं १३ वैरसीजी के पुत्र) इन्होंने जालोर की हुकूमत की और उसके पास ही सं० १७८४ में सावंतपुरा नामका एक ग्राम बसाया।

नहीं, अतएव मेरी आज्ञा से शहर के दरवाज़े बन्द करदो।"

द्वारपाल थर-थर कांपने लगा, उसकी बुद्धि को काठ मार गया। वह गिड़गिड़ाकर बोला "महारानीजी का सुहाग अटल रहे। मैं आप की आज्ञा-पालन में असमर्थ हूँ; वह हमारे महाराजा हैं, जीवनदाता हैं।"

रानी—नहीं! अब वह जीवनदाता नहीं। जो प्राणों के भय से भागकर स्त्री के आँचल में छुपे, वह जीवनदाता नहीं। जीवनदाता वह है, जो सर्वसाधारण के हितार्थ अपना जीवनदान करने को सदा प्रस्तुत रहे।

द्वार०—महारानीजी! वह हमारे अन्नदाता हैं।

रानी—असम्भव! जो दासत्त्व-वृत्ति स्वीकार कर चुका हो, परतन्त्रता के बन्धन में जकड़ा जा चुका हो, जो दूसरे की दी हुई सहायता से अपने को सुखी समझता हो, वह अन्नदाता नहीं।

द्वार०—वह परतन्त्र नहीं, अपितु यवन बादशाह के दाहिने हाथ हैं।

रानी—वह भी किसलिये? अपने देश वासियों को नीचा दिखाने के लिए मायावी यवन बादशाह कांटे से कांटा निकालना चाहता है।

द्वार०—अर्थात्—

१६. राव सुरतरामजी:—

(नं० १४ संग्रामसिंहजी के पुत्र) ये नागौर के महाराजा बखत-सिंह जी के यहाँ फौजबख्शी थे। सं० १८०८ में महाराज के साथ

रानी—यही कि वह कुछ राजपूतों को अपने पक्ष में करके भारत के समस्त राजपूतों को शिखंडी बनाना चाहता है। भारत के हाथों भारत-सन्तान का पतन चाहता है! भोले द्वारपाल! याद रक्खो, स्वामी सेवक का चाहे जितना आदर क्यूं न करे, चाहे मणिमुक्ता देकर उसको सोने की जंजीर से क्यों न सजादे, परन्तु जो दास है; वह तो सदा दास ही रहेगा!

द्वार०—महारानीजी! आपका कथन सत्य है, किन्तु पति फिर भी पति है, उनका अपमान करने से क्या लाभ? क्षमा कीजिये, मैं आपको कुछ सीख नहीं दे रहा हूँ, परन्तु फिर भी पुराना सेवक होने का अभिमान रखते हुए, मैं यह प्रार्थना करता हूँ, कि आप इस समय तो उन्हें अन्तःपुर में बुलाकर सान्त्वना दें, पश्चात् क्षत्रि-योचित कर्त्तव्य का ज्ञान कराने के लिए कुछ उतार चढ़ाव की बातें भी करें। इसके विपरीत करने से जग हँसाई होगी और प्रजा भी उद्दण्ड हो जायगी।

द्वारपाल के समय-विरुद्ध व्याख्यान को सुनकर शिशोदिया-राज कुमारी झल्ला उठी; किन्तु द्वारपाल की स्वामि-भक्ति ने क्रोध के पारे को आगे न बढ़ने दिया, वह सहम कर बोली—

"तुझ से अधिक मेरे हृदय में उनका मान है। वह मेरे ईश्वर हैं; मेरे देवता हैं; मैं उनकी पुजारिन हूँ। परन्तु मालूम होता है

जोधपुर आनेपर भी यही रहे। इनको राज्य की ओर से सं० १८०८ श्रावणवदी ३ को लूणावास और पाड़लाऊ गाँव रेख ३०००) तीन हज़ार के प्रदान किये गये। सं०१८२० ज्येष्ठ शुक्ला ५ को दीवानगिरी का अधिकार मिला। सं० १८२३ तक इस पद पर रहे। राज्य ने

वृद्धावस्था में तेरी बुद्धि पर पाला पड़ गया है, वीरता को जंग लग गया है, नहीं तो ऐसी बातें नहीं करता। क्या तू नहीं जानता कि मारवाड़ वीर-प्रसवा भूमि है? यहाँ के निवासी युद्ध से भागना नहीं जानते, वह जानते हैं युद्ध में कट कर मरना। महाराज को देखने पर जब उन्हें मालूम होगा कि यहाँ युद्ध से भागे हुये कायर को भी शरण मिल सकती है. उसका भी आदर होता है, तब वह भी यह कुटेव सीख जायँगे। अतएव मैं नहीं चाहती कि मेरे देश-वासी कायर बनें।"

वृद्ध द्वारपाल अवाक् रहगया! वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ की नाईं पृथ्वी को कुरेदने लगा।

+ + +

शिशोदिया राजकुमारी की सास भी छुपी हुई यह सब कुछ सुन रही थी। पुत्रवधू के वीरोचित शब्दों से यशवन्त की जननी का रक्त खौल उठा। यह वास्तव में उसका अपमान था। वह दुःख में अधीर हो उठी। पुत्र को पुनः रणक्षेत्र में कैसे भेजूं—वह यही सोचने लगी। अन्त में उसने क्रोध को दबाकर गर्म लोहे को ठण्डे लोहे से काटा। यशवन्तसिंह को बुलाकर सदा की भांति प्यार करके भोजन जिमाने लगी! सुवर्ण के स्थान में लोहे के

प्रसन्न होकर १५ हजार की जागीर इनको प्रदान की। सं० १८२२ में इन्होंने दक्षिणी खाजू के साथ युद्ध किया और उसे जीतकर उसकी सेना की सामग्री को लूट लिया। सं० १८३० के फाल्गुण सुदी ३ को इनको मुसाहबी का अधिकार मिला तथा राव की पदवी के साथ हाथी, पालकी का शिरोपाव मिला और चैत्रवदी सप्तमी के दिन महाराज ने २१०००) की जागीर प्रदान की।

वर्तन देखकर यशवन्तसिंह क्रुद्ध होगये। राज-माता भी दासियों पर कृत्रिम क्रोधित होकर बोलीं—"देखती नहीं हो, मेरा बेटा तो पूर्व ही लोहे से डरकर यहाँ भाग आया है, फिर लोहा ही उसके सामने ला रक्खा!" माता के इस व्यंग से यशवन्तसिंह कटसे गये। राज-माता अपने उपदेश का अंकुर जमने योग्य भूमि देखकर बोली—

"यशवन्त! वास्तव में तू मेरा पुत्र नहीं। तुझे बेटा कहते हुये मैं मारे आत्म-ग्लानि के गड़ी जा रही हूँ। यदि तू मेरा पुत्र होता तो शत्रु को पराजित किये विना न आता। तुझ में मान नहीं, साहस, नहीं अभिमान नहीं, तू कुलकलंकी है, कायर है, शिखण्डी है, तूने राजपूत कुल में जन्म लेकर, इस के उज्ज्वल मुख में कलंक लगा दिया। बहू का आत्माभिमान देखकर मेरी छाती गर्व से फूल उठी है, किन्तु साथ ही दारुण अपमान के मारे मैं मरी जारही हूँ। एक तो वह वीर-प्रसवा क्षत्राणी, जिसने ऐसी वीर-बाला को जन्म दिया, और एक मैं जो तेरे जैसे कुलंगार को उत्पन्न किया! धिक्कार है मेरे पुत्र प्रसव करने को! अच्छा होता जो वन्ध्या होती अथवा तेरी जगह ईंट-पत्थर प्रसव करती। जो मकानों के तो काम

१७. मेहता सवाईरामजी:—

(नं० १६ सुरतरामजी के पुत्र) संवत् १८३१ में इनके पिता का देहान्त होने पर उनका सारा अधिकार (मुसाहिबी तथा पट्टा) इन को मिला जो कि सं० १८४९ तक बना रहा।

१८. मेहता सरदारमलजी:—

(नं १७ सवाईरामजी के पुत्र) वैसाख सुदी ११ संवत् १८५६ में इनको दीवानगिरी मिली और आषाढ़ सुदी २ सं० १८५७ को २०००) की रेख का गाँव कांकेलाव मिला।

१९. मेहता ज्ञानमलजी:

(नं० १६ सुरतरामजी के पुत्र) यह महाराजा मानसिंहजी के दीवान रहे और गींगोली की लड़ाई तथा घेरे में उक्त महाराज की सेवा की।

आते। अस्तु, जो होना था सो हो चुका। किन्तु ठहर, मैं तेरा जीवन समाप्त कर देना चाहती हूँ। बहू कायरपत्नी नहीं कहलाना चाहती, तो मैं भी कायर पुत्र को जीवित रखना नहीं चाहती।"

क्रोध के आवेश में वीर-माता कटार निकाल कर मारना ही चाहती थी, कि यशवन्तसिंह रोकर पैरों पर गिर पड़े। फिर तलवार निकाल कर प्रतिज्ञा की "माता! जब तक मैं जीवित रहूँगा युद्ध में रहूँगा, युद्ध से कभी विमुख न हूँगा। जब तक शत्रुओं का नाश नहीं कर लूंगा कभी सुख से न बैठूंगा।" —गोयलीय

[जून सन् २८]

२०. मेहता नथमलजी :—

(नं० १९ ज्ञानमलजी के पुत्र) इन्होंने संवत् १८६१ में सिरोही फ़तह की और अल्पावस्था में ही इनका देहान्त होगया"।

नोटः—इस मोहणोत ओसवाल वंश में अनेक प्रतिष्ठित नर-रत्न हुये हैं। जो राज्य के प्रारम्भ से ही वंशपरम्परागत दीवान पद पर प्रतिष्ठित होते रहे हैं। मेहता सरदारसिंह जी (मोहनजी की २८ वीं पीढ़ी में उत्पन्न) अपने जीवन के अन्त समय तक अर्थात् आषाढ़ सुदी ४ संवत् १९५८ तक दीवानगिरी का कार्य करते रहे, उनके इस मिती को स्वर्गासीन होने पर जोधपुर राज्य में यह ओहदा ही तोड़ दिया गया। इस वंश का विस्तृत विवरण "राय-बहादुर मेहता विजयसिंहजी के जीवनचरित्र" में मिलता है। इसी पुस्तक से उक्त अवतरण संकलन किये गये हैं। उक्त "जीवन-चरित्र" की पुस्तक से प्रकट होता है कि अब इस वंश में जैनधर्म की मान्यता नहीं रही है। अतः इस वंश में कब तक जैनधर्म की प्रतिष्ठा रही, यह उक्त पुस्तक के लेखक मेहता किशनसिंहजी (मोहनजी की २९वीं पीढ़ी में उत्पन्न) से दर्याफ्त करने पर, उन्होंने अपने ता० १ जनवरी सन् ३३ के पत्र में लिखा था कि, "हमारे वंश में श्रीचैनसिंहजी तक तो जैनधर्म रहा जैसा कि 'जीवन चरित्र' की पुस्तक से प्रकट होता है। बाद में वैष्णवधर्म अंगीकार कर लिया। लेकिन जैनधर्म पर हमारी पूर्ण श्रद्धा है।"

अतः प्रस्तुत पुस्तक में उक्त वंश का परिचय मेहता चैनसिंह जी (मोहनजी की २५ वीं पीढ़ी में उत्पन्न) के समय तक (संवत्

१८६१) का दिया गया है जो प्रकट रूपसे जैनधर्मी रहे। यद्यपि उक्त लेखक महोदय के कथनानुसार अब भी इस वंश की जैन-धर्म पर पूर्ण श्रद्धा है, परन्तु पुस्तक का विषय केवल जैनधर्मनिष्ठ व्यक्तियों का चरित्र संकलन करना है, इसी लिये संवत् १८६१ के पश्चात् होनेवाले महानुभावों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

—गोयलीय

[१६ जनवरी सन् ३३]

चौहान वंशीय जैन-वीर

जोधपुर के भण्डारी

जोधपुर के भण्डारी ओसवाल जैन हैं। इनका मारवाड़ी समाज में एक विशेष स्थान है। जोधपुर में इनके लगभग ३०० घर हैं। ये लोग अपनी उत्पत्ति अजमेर के चौहान राजवंश से बताते हैं। इनके पूर्वज राव लक्ष्मण (लखमसी) ने अजमेर के राज्यवंश से पृथक होकर नाडौल में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। इस कुल में कितने ही राजा हुये। सबसे अन्तिम राजा अल्हणदेव था। जिसने सन् ११६२ ईस्वी में नाडौल के जैनमन्दिर की सहायतार्थ बहुतसी सम्पत्ति अर्पण की † और महिने के कुछ

---

† टॉड साहब ने अल्हणदेव द्वारा मन्दिर के लिये सहायता देने का जो उल्लेख किया है, उसके सम्बन्ध में महात्मा टाड साहब को एक ताम्रपत्र मिला था, जिसका कुछ अंश निम्न प्रकार है:—

"सर्व शक्तिमान् जैन के ज्ञानकोष ने मनुष्य जाति की विषय-वासना और ग्रन्थि मोचन करदी। अहंकार आत्मश्लाघा, भोगेच्छा, क्रोध और लोभ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल को विभिन्न करदेते हैं। महावीर (जैनधर्म के चौवीसवें तीर्थंकर) आपको सुखसे रक्खें"। अति प्राचीन काल में महान चौहान जाति समुद्र के तट तक राज्य करती और नादौल कक्ष द्वारा शासित होती थी। उन्हीं की

दिनों में पशुवध न करने का आज्ञापत्र जारी किया । इसमें सन्देह नहीं कि भण्डारियों का पूर्वज राव लाखा एक महापुरुष था। वीरता और देशभक्ति में कोई उसका सानी न था। उसने अणहिलवाड़ा से कर और चित्तौड़ के राजा से ख़िराज वसूल किया था।‡

बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न अलनदेव ने कुछ काल राज्य करके इस संसार को असार, शरीर को अपवित्र समझकर, अनेक धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके वैराग्य ले लिया। इन्होंने ही महावीर स्वामी के नाम पर मन्दिर उत्सर्ग किया और वृत्ति निर्धारित की और यह भी लिखा कि "यह धन सुन्दर गाछा (ओसवाल जैनियों की ८४ शाखाओं में से एक) लोगों की वंश परम्परा को बराबर मिलता रहे। जबतक सुन्दरगाछा लोगों के वंश में कोई जीवित रहेगा तबतक के लिये मैंने यह वृत्ति निर्द्धारित की है। इस का जो कोई स्वामी होगा मैं उसका हाथ पकड़ कर कहता हूँ कि यह वृति वंश परम्परा तक चली जावै। जो इस वृत्ति को दान करेगा वह साठ सहस्र वर्ष तक स्वर्ग म बसेगा और जो इस वृत्ति को तोड़ेगा वह साठ सहस्र वर्ष तक नर्क में रहेगा।" सं० १२२८ में यह दानपत्र लिखा गया) प्राग्वंशीय धरणीधर-ओसवाल के पुत्र करमचन्द इनके मंत्री थे।"

(टा० रा० प्रथमभाग द्वि० खं० अ० २७ पृ० ७४७)—गोयलीय

‡ इस की वीरता के सम्बन्ध में टाडराजस्थान में लिखा है: "जिस समय ग़ज़नी बादशाह भारतवर्ष लूटने के लिये आया, तब वह चौहान जाति की प्रधान वासभूमि अजमेर पर अधिकार करने के लिये गया। वहाँ चौहान लोगों ने उचित शिक्षा देकर इसे युद्ध में परास्त और घायल किया। इस लिये वहाँ से भागकर नादौल होता हुआ सोमनाथ गया। नादौल के अधिकारी लाक्षा (लखमसी) ने उसके साथ बड़ी वीरता से युद्ध किया। यही लाक्षा उस समय चित्तौड़ के अधीश्वरों से कर लेता था। इसके समय में जैनधर्म का विशेष प्रभुत्त्व रहा।"

(टा० रा० प्र० भा० द्वि० खं० अ० २७ पृ० ७४८)—गोयलीय

अब भी कोई यात्री वहाँ जाता है, तो उसे नाडौल का क़िला दिखाया जाता है। कहते हैं कि इसे लाखा ने ही बनवाया था। लाखा बड़ा ही सौभाग्यशाली पुरुष था। उसके चौवीस पुत्र-रत्न थे उनमें से एक का नाम दादराव (दूदा) था, वही भण्डारीकुल का जन्मदाता है। कहा जाता है कि राजघराने के भण्डार का प्रबन्ध दादराव के हाथ में था। इसी कारण से इसकी सन्तान भण्डारी नाम से प्रसिद्ध हुई। विक्रम सं० १०४९ अथवा ई० सं० ९९२ में यशोभद्रसूरि ने दादराव को जैनधर्म में दीक्षित किया और उसके कुल को ओसवाल जाति में मिलाया था।

भण्डारी लोग राव जोधाजी के समय में अर्थात् ई० स० १४२७ से १४८९ तक मारवाड़ में आकर बसे और उन्होंने राव जोधा की काफी सेवा की। अपने सेनापति नारोजी और समरोजी भण्डारी की आधीनता में ये लोग मारवाड़ की सहायतार्थ मेवाड़ की सेना से भिलवाड़े में लड़े थे और उसपर विजय प्राप्त की थी। जब से ये लोग जोधपुर में आये उसी समय से राज्य-दरबार में इन की बड़ी मान्यता रही और यह राज्य के बड़े२ उच्च पदों पर नियुक्त रहे। संघवियों की भान्ति ये भी असि, मसि अर्थात् तलवार और क़लम के धनी थे तथा जोधा घराने (वर्तमान मारवाड़ राज्य-वंश) के सच्चे भक्त और उपासक थे। ये लोग अब भी राज्य के सच्चे सेवक समझे जाते हैं। ये लोग न केवल राजनीतज्ञ और योद्धा ही प्रसिद्ध थे, अपितु इमारत बनवाने में और लेखन कला में भी काफी ख्याति पाई थी।

अब हम पाठकों को उन भण्डारियों का संक्षिप्त परिचय कराते हैं, जिन्होंने युद्ध में नाम पैदा किया था।

१. भाना भण्डारीः—

यह मारवाड़ में राजा गजसिंह के मातहत था और जैतारण का रहने वाला था। इसके पिता का नाम अमर था। वि०सं०१६७८में इसने कापरदा में पार्श्वनाथ का एक विशाल मन्दिर बनवाया। उसकी शिलारोपण रस्म खरतरगच्छ के आचार्य जिनसेनसूरि से कराई। मूर्ति का लेख यह बतलाता है कि यह राय लखन के पीछे हुआ था।

२. रघुनाथ भण्डारीः—

यह महाराजा अजीतसिंह के समय में (१६८०–१७२५ ईस्वी) में हुआ। महाराज ने दीवान के पद पर नियुक्त करके राज्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्यों को सौंप दिया था। राज्यप्रबन्ध और सिपाहगिरी दोनों कार्यों में इस का अनुभव बहुत बढ़ा चढ़ा था। कर्नल वाल्टर साहब का कथन है कि जब महाराजा अजीतसिंह देहली में विराजमान थे, तब रघुनाथ भण्डारी ने अपने स्वामी के नाम से मारवाड़ में कितने ही वर्ष शासन किया था। यह बात नीचे लिखे हुये पद से भी प्रकट होती है, जो जन साधारण में बहुत प्रसिद्ध है।

'कोड़ां द्रव्य लुटायो, हौदा ऊपर हाथ।
"अंजि दिल्लीरो पातशो राजा तौ रघुनाथ"।

अर्थात्— जब अजीतसिंह दिल्ली पर शासन कर रहे थे,

उस समय रघुनाथ भण्डारी मारवाड़ पर राज्य कर रहा था।

३. खिमसी भण्डारी:—

यह दीपचन्द का पौत्र और रायसिंह का पुत्र था। यह भी महाराजा अजीतसिंह के समय में दीवान पद पर नियुक्त था। इसने दिल्ली के अधिपति से गुजरात के सूबेदारी की सनद प्राप्त करली थी। मारवाड़ का इतिहास इसबात का साक्षी है कि भण्डारी खिमसी ने जजिया कर जिसे औरंगजेब ने पुनः हिन्दुओं पर लगा दिया था—बन्द करा दिया था। यह यश भण्डारी खिमसी को ही प्राप्त है।

४. विजय भण्डारी:

महाराजा अजीतसिंह जब गुजरात के सूबेदार नियुक्त हुये, तब उन्होंने अपने वहाँ आने तक इसको सूबेदारी का कार्य-भार दिया।

५. अनूपसिंह भण्डारी:—

यह दीवान रघुनाथसिंह का पुत्र था। संवत् १७६७ में महाराजा अजीतसिंह के समय में यह जोधपुर का हाकिम नियुक्त हुआ। उस समय की हुकूमत आजकल जैसी शान्तिमय नहीं थी। आन्तरिक इन्तजामी मामलों के साथ साथ उस समय के हाकिम को बाह्य आक्रमणों से सावधान रहना पड़ता था और अवसर आने पर युद्ध भी करना पड़ता था। अर्थात् यूं कहिये कि सिविल और मिलिटरी मामलों का उत्तरदायित्त्व उस समय के हाकिम पर

होता था। यह निपुण राजनीतज्ञ, अपने समय का एक वीर योद्धा और सिपहसालार था। संवत् १७७२ में जब महाराजा कुमार अभयसिंह को देहली से नागौर का मंसब अता हुआ, तब महाराज ने इसे और मेड़ता के हाकिम पोमसिंह भण्डारी को इन्द्रसिंह राठौड़ से नागौर छीन लेने के लिये नियुक्त किया। वीर इन्द्रसिंह राठौड़ भी लड़ने के लिये सजधज कर तैयार हो गये, तब ज्येष्ठ सुदी १३ को गाँव नागौर व अषाढ़ सुदी पूर्णिमा को नागौर में दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ। दोनों बार इन्द्रसिंह की सेना भागी और अन्त में नागौर का अधिकार महाराज को मिला।

६. पोमसिंह भण्डारी:—

यह संवत् १७६७में जालौर, सांचौर का हाकिम नियुक्त हुआ। संवत् १७७६ में जब बादशाह फर्रुखसियर मारा गया, तब महाराजा अजीतसिंह ने इसे फौज देकर अहमदाबाद भेजा था।

७. सूरतराम भण्डारी:—

ई०स०१७४३ अक्टूबर को जयसिंह की मृत्यु के बाद महाराजा अभयसिंह ने मेड़ता से भण्डारी सूरत राम को, अलीनिवास के ठाकुर सूरजमल और रूपनगर के शिवसिंह को अजमेर पर अधिकार करने के लिये भेजा और इन्होंने युद्ध करके अजमेर पर क़ब्जा जमा लिया।

८. गंगाराम भण्डारी:

यह विजयसिंह के समय (ई० स० १७५२-९२) में हुआ। यह

केवल राजनीतज्ञ ही नहीं था, वरन् बहादुर सिपाही भी था। यह मेड़ता के युद्ध में भी गया था। जो सन् १७९० ईस्वी में मरहटों और राठौड़ों के बीच में हुआ था।

९. रतनसिंह भण्डारी:

ओसवाल वंश के एक प्रतिष्ठित घराने में उत्पन्न हुआ था! यह तलवार का धनी, व्यवहारकुशल, राजनीतज्ञ, स्वाभिमानी और कर्तव्य-परायण सेनापति था।

मुग़ल बादशाह की ओर से सन् १७३० में मारवाड़ का राजा अभयसिंह अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त हुवा। तीन वर्ष पश्चात् अभयसिंह, रतनसिंह भण्डारी को यह कार्य-भार सौंपकर देहली चला आया। तब रतनसिंह भण्डारी ने सन् १७३३ से १७३७ तक अजमेर और गुजरात की गवर्नरी का संचालन किया! गवर्नर का कार्य करते हुये इन चार वर्षों में रतनसिंह को अनेक युद्ध करने पड़े! मुग़ल साम्राज्य का पतन हो रहा था, घरेलू झगड़ों ने उसे डावाँडोल कर दिया था। इसलिये कितने ही विद्रोही खड़े हो गये थे, मरहठों का जोर दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था, तब ऐसी विकट परिस्थिति में गुजरात का गवर्नर बने रहना रतनसिंह जैसे वीर योद्धा का ही काम था। अंत में एक युद्ध में यह वीर-गति को प्राप्त हुआ।

१०. लक्ष्मीचन्द्र भण्डारी:

यह महाराजा मानसिंह के राज्य काल में (सन् १८०३-४३)

में दीवान पद पर आसीन रहा। इसको अनुमान २००० रुपये आय का जागीर में एक गाँव मिला था।

११. पृथ्वीराज भण्डारी:—

यह महाराजा मानसिंह के राज्य-समय जालौर का हाकिम था। जिसको पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने शिरोही के इतिहास में लिखा है।

१२. बहादुरमल भण्डारी:—

यह महाराजा तख्तसिंह के समय (सन् १८४३-७३) में हुआ। सम्भवतया मुत्सद्दी वंश में यह सब से अन्तिम था। इसका महाराजा के ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ था कि यथार्थ में लोग इसी को मारवाड़ का राजा मानते थे। यह बात इसकी और भी कीर्ति बढ़ाती है कि राजा और प्रजा दोनों की भलाई करने में—जिनका प्रेम इसकी नस नस में भरा हुआ था—इसने कोई भी बात उठा नहीं रक्खी। इसी कारण से वहाँ की प्रजा इससे बहुत ही प्रसन्न आह्लादित रहती थी। नमक के ठेके के काम में इसने जो कुछ सेवा की थी; उसके लिये मारवाड़ी प्रजा चिरकाल तक इसका आभार मानती रहेगी। सन् १८८५ में सत्तर वर्ष की अवस्था में इसका स्वर्गवास होगया।

१३. किशनमल भन्डारी:—

यह महाराजा सरदारसिंह के पूर्व तथा उनके शासन काल में राज्य का कोषाध्यक्ष रहा। यह आर्थिक विषयों में बड़ा निपुण था।

इसने मारवाड़ के कोष की नींव बहुत पक्की डाल दी थी। निम्न लिखित कवित्त से ज्ञात होता है कि उसे मारवाड़ के प्रजा कितना अधिक चाहती थी ।।

"वक फटत बैरियां, हक़ जशरा होय ।
सुत बहादर रे सिरे किशनों जैसा न कोय ॥"

† केवल संख्या ५ और ६ के वीरों का संकलन ओसवाल भाग ४ अंक १० से किया गया है बाक़ी का परिचय Some Distinguished Jains से कराया गया है।

सिंघवी इन्द्रराज

ऐ फूट तैंने हिन्द की तुर्की तमाम की।
लोगों का चैन खोदिया राहत हराम की॥

—अज्ञात

भारत के फूट और बेर दो प्रसिद्ध मेवे हैं। इनको यहाँ फलते फूलते देख कर महात्मा टॉड साहब ने दुःखी होकर लिखा था:—"हाय! किस कुघड़ी में अभागी भारत-सन्तान ने स्वजाति भाइयों के हृदय-रुधिर का बहाना सीखा था, उसी कुदिन से भारत के उजाड़ होने का आरम्भ होने लगा। विश्राम स्थान भारतवर्ष असीम दुःख का कारागार और अनन्त यन्त्रणा में अन्धतमकूप की भान्ति हो गया है। कुरुक्षेत्र की भयंकर श्मशानभूमि आर्य-गणों की गृह-फूट † का रुधिर मय नमूना दिखा

† भारत की इस "गृह-फूट" पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी क्या खूब भावपूर्ण गीत लिख गये हैं:—

जग में घर की फूट बुरी।
घर की फूटहिं सों बिनसाई सुवरन लंकपुरी॥ टेक॥
फूटहिं सों सब कौरव नासे भारत-युद्ध भयौ।
जाकौ घाटो या भारत में अबलौं नाहिं पुजयौ॥
फूटहिं सों जयचन्द बुलायौ जवनत भारत धाम।
जाकौ फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम॥
जो जग में धन, मान और दल आपुन राखन होय।
तौ अपुने घर में भूले हूँ फूट करौ मत कोय॥

रही है। सब बातों को जान बूझकर भी भारत-सन्तान किस लिये आपस में लड़ाभिड़ा करते हैं, इस मर्म को भगवान् ही जानें ? भारत-भूमि ने किसी समय भी फूट से निस्तार नहीं पाया। इसके माया मोह में पड़ कर न जाने अब तक कितने भारत-सन्तान अकाल में इस लोक से चले गये हैं। मतवाले होकर अपना ही सत्यानाश कर बैठे हैं, इसकी गिन्ती कोई भी नहीं कर सकता, इसका शोकदायक आदर्श आज तक स्वर्णप्रसू भारतवर्ष में चमक † रहा है ‡"।

यहाँ एक ऐसे ही अनर्थकारी गृह-कलह का वर्णन किया जाता है, जिसके कारण व्यर्थ ही सिंघवी इन्द्रराज जैसे देशभक्त नीति-निपुण वीर सेनापति को अपने प्राण गँवाने पड़े।

महाराज मानसिंह के ई०स० १८०४ में मारवाड़ के राज्यासन पर बैठते ही गृह-कलह का स्रोता फूट निकला। जो राठौड़ सरदार और सामन्त किसी समय मारवाड़ की आन के लिये मिटने को प्रस्तुत रहते थे, वही वीर बाँकुरे मारवाड़ी राजपूत मारवाड़ के गौरव को धूलधूसरित करने लिये कटिबद्ध हो गये। इस गृह-कलह ने उनका यहाँ तक पतन किया कि वे मारवाड़ के शासन की बागडोर विजातीय और विदेशीय व्यक्ति तक को सौंपने

---

† अपनों के सर पै वार है गैरों के बूट का।
फल पा रहा है मुल्क यह आपस की फूट का॥
—अज्ञात

‡ टाड राजस्थान प्रथम भाग द्वि० खं० अ० ४ पृ० ११७।

के लिये अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचने लगे। भाग्य से उन्हें इस दुरेच्छा को कार्यरूप में परिणत करने का अनायास अवसर भी हाथ आगया।

उदयपुर के राणा भीमसिंह की अत्यन्त रूपवती कन्या कृष्ण-कुमारी का विवाह जोधपुर के महारजा भीमसिंह से होना निश्चित हुआ था, परन्तु उनके स्वर्गासीन हो जाने के कारण, जोधपुर के एक षड्यन्त्रकारी ने इस कन्या से विवाह करने का प्रस्ताव, जयपुर के महाराज जगतसिंह द्वारा कराया, जिसे उदयपुर के राणा ने सहर्ष स्वीकार कर किया। इधर जोधपुर-नरेश मानसिंह को यह कहकर भड़काया गया कि "उदयपुर-राजकुमारी का विवाह सम्वन्ध पहले जोधपुर के महाराज से निश्चित हुआ था, यदि जयपुर-नरेश के साथ यह सम्वन्ध होगया तो, सदैव को जोधपुर-राज्य को कलंक लग जायगा; क्या सिंह के होते हुये उसके शिकार को लोमड़ी छीन सकेगी? यह सम्वन्ध तो जोधपुर के राज्यसिंहासन के साथ हुआ था, अतः जव आप उस पर आसीन हैं तो उस कुमारी को वरण करने का आपको ही अधिकार है।

वृद्ध महाराज उक्त बातों में आगये और यह सम्वन्ध न लेने के लिये जोधपुर के महाराज को एक पत्र लिखा। जयपुर-नरेश तो पहिले से ही भर दिये गये थे, फिर भला उन्हें इस पत्र को मानने की क्या आवश्यकता थी? परिणाम इसका यह हुआ कि महाराज मानसिंह ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया। किन्तु समर-भूमि में जाते ही मानसिंह के आश्चर्य और दुःख की

कोई सीमा न रही, जब उन्होंने देखा कि, अपनी ओर के सामन्त मारवाड़ की सजी हुई सेना को लेकर जयपुर-सैन्य में जा मिले हैं, और तो और, अपने कुटुम्बी बीकानेर-नरेश को भी जब शत्रु-पक्ष से मिला हुआ देखा, तो वह दुःख से अधीर हो उठे †। वह अकेले ही उस महा विपत्ति में फँस गये और इस प्रकार अपने ही हितैपियों द्वारा विश्वातघात करने पर जोधपुर-नरेश मानसिंह को युद्ध-क्षेत्र से भागना पड़ा। इस से पूर्व कभी मारवाड़ी वीरों ने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई थी, तब अपनों ही के विश्वासघात के कारण उन्हें यह दुर्दिन देखना पड़ा। इस घटना का वर्णन करते हुये महात्मा टॉड कैसी भेदभरी बात लिख गये हैं :—

"जातिगत पतन जाति के द्वारा ही होता है। जातीय गौरव के सूर्य अस्त करने को यदि जाति स्वयं अग्रसर न हो तो, कभी अन्य जाति के द्वारा यह कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ‡।

---

† बहुत उम्मीद थीं जिनसे, हुये वह महर्वा क़ातिल।
हमारे क़त्ल करने को बने खुद पासबाँ क़ातिल॥

× × —अज्ञात्

बाग़बाँ ने आग दी जब आशियाने को मिरे।
जिन पै तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे॥

—अज्ञात्

‡ इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से।
दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग़ से॥

—अज्ञात्

जो महाशक्ति जाति की प्राण-प्रतिष्ठा करती है, जाति की नस-नस में अपना अव्यर्थ तेज भर देती है, उस महाशक्ति का जिस दिन से जाति ने अपमान किया तथा आलस्य और विलासिता के वशीभूत होकर जातीय भ्रातृभाव की जड़ में कुठाराघात किया कि वह जाति उसी रोज़ से पतन के दल-दल में फँस जाती है * ।"

राजा मानसिंह सेना के साथ भागकर सब से पहिले जालौर का आश्रय लेने के लिये वीसलपुर में आ पहुँचे। चैनमल सिंघवी नामक राजकर्मचारी ने मानसिंह को जालौर में आश्रय लेने के लिये उद्यत देखकर कहा—"महाराज! यहाँ से दाहिनी ओर नौ कोस की दूरी पर राजधानी जोधपुर और ४० कोस की दूर पर जालौर का क़िला स्थित है। जालौर की अपेक्षा जोधपुर में बड़ी सरलता से पहुँचा जा सकता है। आप यदि अपने बाहुबल से राजधानी की रक्षा करने में समर्थ न होंगे, तो अन्यत्र स्थान में रहकर सिंहासन के अधिकार की आशा कहाँ है? आप जब तक राजधानी में रहकर सिंहासन के रक्षा की चेष्टा करते रहेंगे; तब तक सम्पूर्ण सर्वसाधारण प्रजा अवश्य ही आपके पक्ष का अवलम्बन करेगी।" महाराज मानसिंह इस कर्मचारी के उपदेश को न्यायसंगत जानकर कुछ घण्टों में जोधपुर के क़िले में आकर अपनी तथा राज्यासन की रक्षा का उपाय करने लगे।

---

* टाड राजस्थान दू० भा पृ० २५३-५४।

किन्तु ठीक खतरे के मौक़े पर उनके सरदार और सामन्तों ने उनके प्रति विश्वासघात और द्रोह किया था, अतः वह अपने रहे सहे अनुयाइयों को भी शंकितदृष्टि से देखने लगे। जहाँ जान और माल की बाज़ी लगी हुई हो, वहाँ अपनी ओर के खिलाड़ी ही प्रतिद्वन्दी से मिले हुये हों, रक्षा के लिये बान्धी हुई तलवार ही जब अपना रक्त चाटने को उद्यत हुई हो अथवा शोभा के लिये पहना हुआ गले का हार ही जब नाग बनकर डस रहा हो, ‡ तब कैसे और क्योंकर किसी पर विश्वास किया जा सकता है? व्याघ्र इतना भयानक नहीं जितना कि गोमुखी व्याघ्र, शत्रु से चौकन्ना रहा जा सकता है, पर मित्ररूप-शत्रु से बचना ज़रा टेढ़ी खीर है। अस्तु, मानसिंह के जो सच्चे हृदय से शुभेच्छु थे, उन्हें भी वह कपटी और द्रोही समझने लगे। शरीर के किसी अंग के सड़जाने पर जब ऑपरेशन किया जाता है, तब दूषित रक्त के साथ कुछ स्वच्छ रक्त भी शरीर से पृथक होजाता है! इसी नीति के अनुसार मारवाड़ के चार सामन्त जो महाराज मानसिंह की जाति के थे और हृदय से देश-भक्त थे, उन्हें महाराज मानसिंह ने शत्रु से मिला हुआ समझ कर क़िले से बाहर निकाल दिया। टॉड साहब के कथनानुसार इन्द्रराज सिंघवी जो मानसिंह के पहले मारवाड़ के दो राजाओं के शासन समय में दीवान पद

---

‡ जिसे हम हार समझे थे गला अपना सजाने को।
वह काला नाग बन बैठा हमारे काट खाने को॥

—अज्ञात

पर नियुक्त था, वह भी इनके साथ था।

शुद्ध हृदय से शुभेच्छु और जाँनिसार होने पर भी जब उक्त चार सामन्त और इन्द्रराज सिंघवी "द्रोही" जैसे घृणित और महापातक लाञ्छन लगाकर पृथक किये गये तब लाचार यह लोग चुपचाप क़िले के बाहर पड़ी हुई शत्रु-सैन्य से आ मिले।

मारवाड़ राज्य के प्रलोभन में जयपुर-नरेश जगतसिंह अपनी सैन्य को लेकर ५ माह तक जोधपुर के क़िले को घेरे हुए पड़े रहे; फिर भी वह इतने लम्बे समय में मारवाड़ के राज्यासन को प्राप्त न कर सके। अतः इनको अपने पक्ष में मिलता हुआ देख कर जगतसिंह को और उसके उन अनुयाइयों को जो मारवाड़ी होते हुए भी मारवाड़ पर जयपुर-नरेश को चढ़ाकर लाये थे, अपार हर्ष हुआ। पर, इनके मिलने में और औरों के मिलने में पृथ्वी आकाश का अन्तर था!

यह अपमानित होने पर भी विभीषण†, जयचन्द और शक्तसिंह की भांति प्रतिहिंसा की आग से अपने ही घर को जलाने के लिए उन्मत्त नहीं हो उठे थे!। व्यक्तिगत मनमुटाव के कारण वह अपनी मातृभूमि को सदैव के लिये परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़वा देने को प्रस्तुत नहीं थे, और न वह अपनी प्रतिहिंसा की आग को निर्दोष व्यक्तियों के रक्त से बुझाने को तैयार थे। यदि

---

† भयौ विभीषण-पुंजतें, यह भारत ब्रह्माण्ड।
क्यों न होय गृह-भेद तें, गृह-गृह लंकाकाण्ड॥
—वियोगीहरि

अत्युक्ति न समझी जाय तो कहना पड़ेगा कि इन्द्रराज सिंघवी का भौतिक शरीर उस मिट्टी से नहीं बना था, जिससे कि विभीषण, जयचन्द‡ और शक्तसिंह आदि का शरीर बना था। अपितु देश-प्रेम और सहृदयता के परमाणु जो एक स्थान पर इकट्ठे होगये थे, उसी पुंज का नाम शायद इन्द्रराज सिंघवी रख दिया गया था। मारवाड़-नरेश के इस दुर्व्यवहार से इन्द्रराज सिंघवी क्रोधित नहीं हुआ। बल्कि इस विपदावस्था में पड़ जाने से जोधपुर-नरेश को अपने पराये का जो ज्ञान तक नहीं रहा था, इस पर उसे तरस ही आया! "तब क्या मारवाड़ अब मारवाड़ियों का न रहकर कछवाहों का होगा? नहीं, यह शरीर मारवाड़ का है, अतः जब तक इसमें एक रक्तकी बूंद भी बाक़ी रहेगी, हम मारवाड़ियों के सिवा यहाँ किसी का आधिपत्य न होने देंगे"। यह पागल का प्रलाप और शेखचिल्ली की बड़ नहीं, अपितु इन्द्रराज सिंघवी और उन चार सामन्तों का भीषण संकल्प था। अतएव उन्होंने शत्रु-दल में रहते हुए भी किसी प्रकार शत्रु-पक्ष के सबसे प्रबल शक्तिशाली

---

‡ खोलि विदेसिनकों दियौ, देस-द्वार मतिमन्द।
स्वारथ-लगि कीनों कहा, अरे अधम जयचन्द॥
स्वर्ग-देस लुटवाय, सठ! कियौ कनक में छार।
फूट बीज इत ब्वै गयो, जयचन्द जाति-कुठार॥
दियौ विदेसिन अरपि, धन-धरती धरम स्वछंद।
हमैं फूट अब देत तूं, धिक दानी जयचन्द॥

—वियोगीहरि

अमीरखाँ को फोड़ लिया और चुपचाप शत्रु-सैन्य में से निकल कर जयपुर पर आक्रमण कर दिया।

इधर महाराज जगतसिंह जो मारवाड़ के राज्य पाने का सुख-स्वप्न देख रहे थे, जब उन्होंने जयपुर विध्वंस होने और अपनी पराजय का दुःखद समाचार सुना तो भौंचक से रह गये। मारवाड़ का राज्य तो क्या, उन्हें अपने ही राज्य की चिन्ता ने आ घेरा। अतः वह जोधपुर का घेरा छोड़कर जयपुर की ओर शीघ्रता से ससैन्य चल दिये। मार्ग में इन्द्रराज सिंघवी ने इनकी सेना को भी ठीक किया और उनसे मारवाड़ का लूटा हुआ माल सब छीन लिया। जोधपुर की इस प्रकार रक्षा और जयपुर-राज्य के विध्वंस के समाचार, जब महाराज मानसिंह ने सुना तो वह अवाक् रह गये, वह इन्द्रराज के इस देश प्रेम, स्वामिभक्ति और नीति-निपुणता से अत्यन्त ही प्रसन्न हुये।

विजयी इन्द्रराज जब जोधपुर आया तब मानसिंह ने उसका अत्यन्त प्रेम पूर्वक स्वागत किया और अभिनन्दन स्वरूप एक कविता भी बनाकर कही, जिसके तीन पद्य निम्न प्रकार हैं:—

पैड़ियां घेरा जोधपुर, आविया दला असंख।
आव दिगन्ते इन्दरा, थे दीधा भुजथंभ॥
इन्दावे असवारियां, जिन चौहटे अम्बेर।
धन मंत्री जोधा नरा, थैं जैपुर कीधी जेर॥
आभ पड़ंतो इन्दरा, तैं दीना भुजदंड।
मारवाड़ नो केटिरो, राख्यो राज अखण्ड॥

टॉड साहब के कथनानुसार इस विजयोपलक्ष में इन्द्रराज सिंघवी मारवाड़ के प्रधान सेनापति-पद से विभूषित किया गया।

राज्य की व्यवस्था ठीक कर लेने पर महाराज मानसिंह ने अपने कुटम्बी बीकानेर-नरेश से बदला लेने के लिए बारह हजार सेना के साथ प्रधान सेनापति इन्द्रराज तथा अन्य सरदारों के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान किया। बापरी नामक स्थान में दोनों सेनाओं का युद्ध हुआ। बीकानेर के महाराज इस युद्ध में परास्त होकर अपनी रक्षा करने के लिए राजधानी को चले आये। बीकानेर महाराज के भागते ही महाराज मानसिंह के प्रधान सेनापति इन्द्रराज आदि उनका पीछा करते हुए गजनेर नामक स्थान में आ पहुँचे, अन्त में विवश होकर बीकानेर महाराज को सन्धि करनी पड़ी और युद्ध की हानि के पूर्ति स्वरूप दो लाख रुपया तथा फलौदी का वह परगना जिसे उन्होंने जयपुर महाराज की हिमायत करके अधिकार कर लिया था लौटाना पड़ा।

सिंघवी इन्द्रराज की सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराजा मानसिंह ने उसे राज्य के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दिये थे। जैसा कि महाराजा मानसिंहजी द्वारा रचित मारवाड़ी भाषा के निम्न दोहे से प्रकट होता है :—

वैरी मारन मीरखां, राज काज इन्द्रराज।
महतो शरणों नाथ रे, नाथ सँवारे काज॥

इन्द्रराज की इस उन्नति से उनके पुराने शत्रु और भी जलभुन कर खाक हो गये। वे सिंघीजी की इस उन्नति को न देख सकें।

उन्होंने इसके खिलाफ षड्यन्त्र रचना शुरू किया, इसके लिये उन्हें अच्छा मौक़ा भी हाथ लग गया। नवाब अमीरखाँ ने (जो उस समय महाराज मानसिंह का मुँह चढ़ा हुआ था और जो अपने मायाचार पूर्ण व्यवहारों से एक अत्यन्त शक्तिशाली था) मुँडवा, कुचेरा आदि अपने जागीर के गाँवों के अलावा मेड़ता और नागौर पर भी अधिकार करने का विचार किया था। यह बात इन्द्रराज सिंघवी को बुरी लगी। उसने इस पर बड़ी आपत्ति प्रकट की। बस इस अवसर से लाभ उठाकर इन्द्रराज सिंघवी के शत्रुओं ने नवाब अमीरखाँ को भड़का दिया। वि० सं० १८७२ की चैत्र सुदी ८ को नवाब ने अपनी फौज के कुछ अफ़सरों को क़िले पर भेजा। उन्होंने वहाँ पहुँच कर अपनी चढ़ी हुई तनख़्वाह माँगी। वेतन का तो बहाना था, बस बात ही बात में झगड़ा होगया और अफ़गान सरदारों ने हमला बोल कर इन्द्रराज सिंघवी का प्राणनाश कर दिया। महाराज मानसिंह को इस बात से वज्रपात का सा दुःख हुआ, वे विह्वल हो गये, उनके हृदय में घोर विषाद छा गया और संसार से उन्हें विरक्ति सी होगई। उन्होंने राज्य करना छोड़ दिया और एकान्त वास करने लगे। इन्द्रराज के इस बलिदान को सुन कर महाराज मानसिंह ने जो कवित्त कहा था, वह इस प्रकार है—

पौढ़ियां किन पोशाकसूँ केड़ी जागां जोय।
ठौर कठे हुये जीवतां होड़ न मरना होय॥

[२८ जनवरी सन् ३३]

जाँगल-बीकानेर राज्य

वीरों की सन्तान, मान पर जो मरते थे;
करते थे शुभ कर्म, धर्म धीरज धरते थे।

भरते थे नव भाव, दीन का दुख हरते थे;
कभी स्वप्न में भी, न टेकसे जो टरते थे॥

---"कण्टक"

बीकानेर-परिचय

बीकानेर-राज्य की चौहद्दी इस प्रकार है:—उत्तर-पश्चिम बहावलपुर, दक्षिण-पश्चिम जैसलमेर, दक्षिण—मारवाड़, दक्षिण-पूर्व जयपुर, शेखावाटी, पूर्व में लाहोर-हिसार। यहाँ २३३१५ वर्गमील स्थान है। इस शहर को राठौड़वंशी राजा बीका ने सन् १४३९ई० में बसाया था। बीकानेर, राजपूताने में प्रसिद्ध देशी रजवाड़े की राजधानी मरुभूमि (रेतीली जमीन) में है, यह शहर पत्थर के साढ़े तीन मील लम्बे परकोटे से घिरा है, जिस में ५ फाटक हैं और तीन ओर खाई है।

बीकानेर के कूए ३०० से४०० फुट तक गहरे हैं, यहाँ वर्षा बहुत कम होती है, लोग वर्षा का पानी कुंडों में (एक प्रकार का छोटासा तालाब) भरलेते हैं, जो प्रायः प्रत्येक मकान में बने हुये हैं और सालभर तक इसी पानी को काम में लाते हैं। बीकानेर-राज्य भर में एक भी नदी नहीं है, परन्तु अब एक नहर वर्तमान बीकानेर-नरेश ने बहुत रुपया खर्च करके पंजाब के दरिया से बीकानेर राज्य में निकलवाई है। मनुष्य संख्या के अनुसार बीकानेर राजपूताने में चौथे नम्बर का शहर है। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी में बीकानेर-राज्य की जैन जन-संख्या २९७७३ रही। बीकानेर-राज्य में भी कितने ही जैन-मन्दिर हैं, जिनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण नहीं किया गया है।

बच्छावतों का उत्थान

और

पतन
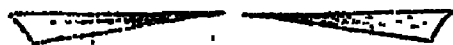
टपक ऐ शमा! आँसू बनके परवाने की आँखों से।
सरापा दर्द हूँ हसरत भरी है दास्तां मेरी॥

—"इक़बाल"

१. सगर:—

"श्री जालोर महादुर्गाधिप देवड़ावंशीय महाराजा श्री सामन्तसीजी थे, तथा उनके दो रानियाँ थीं, जिनके सगर वीरमदे और कान्हड़ नामक तीन पुत्र और उमा नामक एक पुत्री थी। सामन्तसीजी के बाद उनका दूसरा पुत्र बीरमदे जालोराधिपति हुआ और सगर नामक बड़ा पुत्र देलवाड़े में आकर वहाँ का स्वामी हुआ। इस का कारण यह था कि सगर की माता देलवाड़े के झालाजात राणा भीमसी की पुत्री थी और वह किसी कारण से अपने पुत्र सगर को लेकर अपने पिता के यहाँ चली गई थी। अतः सगर अपने नाना के घर में ही बड़ा हुआ था, जब सगर युवावस्था को प्राप्त हुआ, उस समय सगर का नाना भीम-

सिंह जो कि अपुत्र था, मृत्यु को प्राप्त होगया, तथा मरने के समय वह सगर को अपना उत्तराधिकारी बना गया। अतएव राणा भीमसिंह की मृत्यु के पश्चात् १४० ग्रामों सहित सगर देलवाड़े का स्वामी हुआ और उसी दिन से वह राणा कहलाने लगा, उसका श्रेष्ठ तपस्तेज चारों ओर फैल गया, उस समय चित्तौड़ के राणा रतनसी पर मालवपति मुहम्मद बादशाह की फौज चढ़ आई, तब राणा रतनसी ने सगर को शूरवीर जानकर उसे अपनी सहायता को बुलाया। युद्ध-आमंत्रण सुनतेही सगर अपनी सेना को लेकर राणा रतनसी की सहायता को पहुँच गया। बादशाह, सगर के सामने न ठहर सका और प्राण बचाकर भाग निकला, तब मालवा देश को सगर ने अपने क़ब्जे में करलिया। कुछ समय के पश्चात् गुजरात के मालिक वहिलीम जात अहमद बादशाह ने राणा सगर को कहला कर भेजा कि "तू मुझको सलामी दे और हमारी नौकरी को मंजूर कर, नहीं तो मालवा देश को मैं तुझ से छीन लूंगा" स्वाभिमानी सगर भला यह बात कैसे स्वीकार कर सकता था ? परिणाम यह हुआ कि सगर और बादशाह में घोर युद्ध हुआ, आखिरकार बादशाह हारकर भाग गया और सगर ने समस्त गुजरात को अपने अधिकार में करलिया। इस तरह परा-क्रमकारी सगर मालवा और गुजरात का अधिपति होगया। कुछ समय के बाद पुनःकिसी कारण से गोरी बादशाह और राणा रत-नसी में परस्पर विरोध उत्पन्न होगया और बादशाह चित्तौड़ पर चढ़ आया, उस समय राणाजी ने शूरवीर सगर को बुलाया और

सगर ने आकर उन दोनों का आपस में मेल करा दिया तथा बादशाह से दण्ड लेकर उसने मालवा और गुजरात देश पुनः बादशाह को वापिस दे दिये, उस समय राणाजी ने सगर की इस बुद्धिमत्ता को देखकर उसे मंत्रीश्वर का पद दिया और वह (सगर) देलवाड़े में रहने लगा तथा उसने अपनी बुद्धिमत्ता से कई एक शूरवीरता के काम कर दिखाये।

२. बोहित्थ:—

सगर के बोहित्थ, गङ्गदास और जयसिंह नामक तीन पुत्र थे, इनमें से सगर के पाटपर उसका बोहित्थ ‡ नामक ज्येष्ठ पुत्र मंत्रीश्वर होकर देलवाड़े में रहने लगा, यह भी अपने पिता के समान बड़ा शूरवीर तथा बुद्धिमान था।

बोहित्थ की भार्या बहुरंगदे थी, जिस के श्रीकरण, जैसे, जयमल्ल, नान्हा, भीमसिंह, पदमसिंह, सोमजी, और पुण्यपाल नामक आठ पुत्र थे और पद्मावाई नामक एक पुत्री थी।

३. श्रीकरण:—

के समधर वीरदास हरिदास और उधरण नामक चार पुत्र थे। यह (श्रीकरण) बड़ा शूरवीर था, इसने अपनी भुजाओं के बल से मच्छेन्द्रगढ़ को फ़तह किया था, एक समय का प्रसंग है कि—बादशाह का खजाना कहीं को जारहा था, उसको राणा श्रीकरण ने लूट

‡ बोहित्थ ने चित्तौड़ के राणा रायमल्ल की सहायता में उपस्थित होकर बादशाह से युद्ध किया, और उसे भगा दिया था।

लिया, जब इस बात की खबर बादशाह को पहुँची, तब उसने अपनी फौज को लड़ने के लिये मच्छेन्द्रगढ़ पर भेज दिया, राणा श्रीकरण बादशाह की उस फौज से खूब ही लड़ा परन्तु आखिरकार वह अपना शूरवीरत्व दिखाकर उसी युद्ध में काम आया।

४. समधरः—

राणा के काम आजाने से इधर तो बादशाह की फौज ने मच्छेन्द्रगढ़ पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया, उधर राणा श्रीकरण को काम आया हुआ सुनकर राणा की स्त्री रतनादे कुछ द्रव्य (जितना साथ में चल सका) और समधर आदि चारों पुत्रों को लेकर पीहर (खेड़ीपुर) को चली गई और वहीं रहने लगी तथा अपने पुत्रों को अनेक प्रकार की कला और विद्या सिखलाकर निपुण कर दिया। विक्रम संवत् १३२३ के आषाढ़ वदि २ पुष्य नक्षत्र गुरुवार को खरतरगच्छाधिपति जैनाचार्य श्रीजिनेश्वरसूरिजी महाराज विहार करते हुये वहाँ (खेड़ीपुर में) पधारे। इनके धर्मोपदेश से रानी के चारों पुत्रों ने जैन शास्त्रोक्त विधि से श्रावकों के बारह व्रतों को ग्रहण किया, तथा आचार्य महाराज ने उनका महाजन वंश और बोहित्थरा (बोथरा) गोत्र स्थापित किया। जैनधर्म में दीक्षित होने के बाद उक्त चारों कुमारों ने धर्मकार्यों में द्रव्य लगाना शुरु किया। तथा उक्त चारों भाई संघ निकाल कर और आचार्य महाराज को साथ लेकर सिद्धिगिरी की यात्रा को गये। इस यात्रा में उन्होंने एक करोड़ द्रव्य लगाया। जब लौटकर वापिस आये तब सबने मिलकर समधर को संघपति का पद दिया।

५. तेजपालः—

समधर के तेजपाल नामक एक पुत्र था, समधर स्वयं विद्वान् था, अतः उसने अपने पुत्र तेजपाल को भी छः वर्ष की अवस्था में ही पढ़ाना शुरु कर दिया और दश वर्ष तक उससे विद्याभ्यास में उत्तम परिश्रम करवाया। तेजपाल की बुद्धि बहुत ही तेज थी, अतः वह विद्या में खूब निपुण होगया तथा पिता के सामने ही गृहस्थाश्रम का सब काम करने लगा।

...... समधर का जब स्वर्गवास हुआ, तब तेजपाल की अवस्था लगभग १५ वर्ष की थी। तेजपाल गुजरात के राजा से गुजरात खरीद कर उसका राजा बन गया। वि० सं० १३७७ ज्येष्ठ वदी ११ के दिन, तीन लाख रुपया लगाकर दादा साहिब जैनाचार्य श्री जिनकुशलसूरिजी महाराज का नन्दी (पाट) महोत्सव पाटन नगर में किया तथा उक्त महाराज को लेकर शत्रुंजय का संघ निकाला और बहुतसा धन शुभ मार्ग में लगाया। पीछे सब संघने मिलकर तेजपाल को माला पहिनाकर संघपति का पद दिया। इस प्रकार अनेक शुभ कार्यों को करता हुआ अपने पुत्र बील्हाजी को घरका भार सौंप कर अनशन करके स्वर्गासीन हुआ।

६. बील्हाजीः—

के कड़ूवा और धरण नामक दो पुत्र हुए, बील्हाजी ने भी अपने पिता के समान अनेक धर्म कृत्य किये।

७. कड़ूवाः—

बील्हाजी की मृत्यु के पश्चात् उनके पाटपर उनका बड़ा पुत्र

कडूवा बैठा। इसका नाम तो अलबत्ता कडूवा था, परन्तु वास्तव में यह परिणाम् में अमृत के समान मीठा निकला। एक वार यह मेवाड़ देशस्थ चित्त.ड़गढ़ देखने के लिये गया। उसका आगमन सुन कर चित्तौड़ के राणाजी ने उसका बहुत सम्मान किया। थोड़े दिन के बाद माँडवगढ़ का बादशाह किसी कारण से फ़ौज लेकर चित्तौड़गढ़ पर चढ़ आया। इससे सभी चिन्तित हुये, तब राणा ने कडुवा से कहा:—"पहिले भी तुम्हारे पुरखाओं ने हमारे पूर्वजों के अनेक बड़े बड़े काम सुधारे हैं, इसलिये अपने पूर्वजों का अनुकरण कर, आप भी हमारे इस काम को सुधारो।" यह सुनकर कडूवाजी ने बादशाह के पास जाकर अपनी बुद्धिमता से उसे समझा कर परस्पर में मेल करा दिया और बादशाह की सेना को वापिस लौटा दिया। इस बात से नगरवासी जन बहुत प्रसन्न हुये और राणाजी ने भी प्रसन्न होकर कडुवाजी को अपना प्रधान मंत्री बनाया। उक्त पद को पाकर कडूवाजी ने अपने सद्वर्ताव से वहाँ उत्तम यश प्राप्त किया। कुछ दिनों के बाद कडुवा राणाजी की आज्ञा लेकर अण-हिलपत्तन में गये, वहाँ भी गुजरात के राजा ने इनका बड़ा सम्मान किया तथा इन के गुणों से सन्तुष्ट होकर पाटन इन्हें सौंप दिया, कडूवाजी ने अपने कर्तव्य को विचार कर सात क्षेत्रों में बहुत सा द्रव्य लगाया, गुजरात देश में जीव-हिंसा को बन्द करवा दिया, तथा विक्रम संवत् १४३२ के फाल्गुण बदी छट्ठ के दिन खरतरग-च्छाधिपति जैनाचार्य श्रीजिनराजसूरिजी महाराज का नन्दी (पाट) महोत्सव सवालाख रुपये लगाकर किया, इसके सिवाय इन्होंने

शत्रुंजय का संघ भी निकाला। इन्हों ने यथा शक्ति जिनशासन का अच्छा उद्योत किया। अन्तमें अनशन आराधन कर स्वर्गासीन हुये।

८. जेसलजी:—

कड़वा जी की चौथी पीढ़ी में जेसलजी हुये, उनके वच्छराज, देवराज और हंसराज नामक तीन पुत्र हुये।† "

९. वच्छराजजी:—

अपने भाइयोंको साथ लेकर मण्डोवर नगरमें राव रिढ़मलजी के पास जा रहे और राव रिढ़मल जी ने वच्छराजजी के वुद्धि के अद्भुत चमत्कार को देखकर उन्हें अपना मंत्री नियत करलिया।

जब रिढ़मल राणा कुम्भा के हाथसे मारा गया, तब वच्छराज ने जोधा को मंडौर बुलाने के लिये निमंत्रणपत्र भेजा और उसको राजा प्रसिद्ध किया। कुछ काल के वाद जोधा के लड़के बीका ने अपने लिये एक नवीन राज्य स्थापित करने की अभिलाषा से मंडौर से उत्तर की ओर प्रस्थान किया। वच्छराज भी उस पराक्रमी युवराज के साथ हो लिया। वच्छराजका यह कार्य बहुत ही ठीक था वच्छावत वंश के इतिहास में उन के शुभ संवत् का प्रारम्भ यहीं से होता है। बीका के सौभाग्य ने जोर लगाया और उसको अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। जंगल (Janglu) के संकलों (Sanklas) की भूमि को अपने अधिकार में करके अब उसने पश्चिम की ओर गमन किया और भट्टियों (Bhattias) से भागौर

---

† जैनसम्प्रदाय शिक्षा पृ० ६३९—४४।

जीत लिया। यहीं उस ने मंडौर छोड़ने के तीस वर्ष बाद अर्थात् सन् १४८८ ई० में अपनी राजधानी बीकानेर की नींव डाली और यहीं पर वह अपने नये जीते हुये देशों का स्वतंत्र राजा बनकर रहने लगा। वच्छराज भी अपने कुटुम्ब सहित इसी जगह रहने लगा और अपने स्वामी की भांति उस ने भी वच्छसार नाम का एक गाँव बसाया। वच्छराज बड़ा ही प्रेमी और धर्मात्मा पुरुष था। उस ने जैनधर्म की प्रभावना के लिये बहुत कुछ उद्योग किया। उसने शत्रुंजय की यात्रा की और अंत में पूर्ण वयस्क और सर्वमान्य होकर उसने देवलोक को गमन किया।

"वच्छराज मंत्री के करमसी, वरसिंह, रत्ती, और नरसिंह नामक चार पुत्र हुये और वच्छराज के छोटे भाई देवराज के दसू, तेजा और भूण नामक तीन पुत्र हुये।

१०. कर्मसिंहः—

राव श्री लूणकरणजी महाराज ने वच्छावत करमसिंहजी को अपना मंत्री बनाया। करमसिंह ने अपने नाम से करमसीसर नामक ग्राम बसाया। विक्रम सं० १५७० में बीकानेर नगर में नेमिनाथ स्वामी का एक बड़ा मन्दिर बनवाया था जो कि धर्मस्तम्भरूप अभी तक मौजूद है। इसके सिवाय इन्होंने तीर्थ-यात्रा के लिये संघ निकाला तथा शत्रुंजय, गिरनार और आबू आदि तीर्थों की यात्रा की।

११. वरसिंहः—

राव लूणकरणजी के बाद राव जैतसीजी राज्यासीन हुये,

इन्होंने करमसिंह के छोटे भाई वरसिंह को अपना मंत्री नियत किया। वरसिंह के मेघराज, नगराज, अमरसी, भोजराज, डूंगरसी और हरराज नामक छः पुत्र हुये। इनके द्वितीय पुत्र नगराज के संग्रामसिंह नामक पुत्र हुआ और संग्रामसिंह के कर्मचन्द नामक पुत्र हुआ।

१२. नगराजः—

वरसिंह के स्वर्गवास होने पर राव जैतसीजी ने अपना मंत्री नगराज नियत किया। मंत्री नगराज को चांपानेर के बादशाह मुजफ्फर की सेवा में किसी कारण से रहना पड़ा और उन्होंने बादशाह को अपनी चतुराई से खुश करके अपने मालिक की पूरी सेवा बजाई तथा बादशाह की आज्ञा लेकर उन्होंने श्री शत्रुंजय की यात्रा की और वहाँ भण्डार की गड़बड़ को देखकर श्री शत्रुंजय की कुंजी अपने हाथ में लेली। सं १५८२ में जब कि दुर्भिक्ष पड़ा उस समय इन्होंने सदावर्त दिया, जिस में तीनलाख पिरोजों का व्यय किया।......कुछ काल के पश्चात् इन्होंने अपने नाम से नगासर नामक ग्राम बसाया।

१३. संग्रामसिंहः—

राव कल्याणमलजी महाराज ने मंत्री नगराज के पुत्र संग्रामसिंह को अपना राज्यमंत्री नियत किया। संग्रामसिंह ने शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा के लिये संघ निकाला तथा पूर्व परम्परानुसार धर्मदान किया। यात्रा करते हुये चित्तौड़गढ़ में आये, वहाँ राणा उदयसिंहने इनका बहुत मान-सम्मान किया। वहाँ से रवाना

होकर जगह जगह सम्मान पाते हुये सानन्द बीकानेर आये। इनके सद्व्यवहार से राव कल्याणसिंहजी बड़े प्रसन्न थे ‡।"

१४. कर्मचन्दः—

टॉक साहब लिखते हैं कि:— बच्छावतवंश का अंतिम महापुरुष कर्मचन्द था। वह राव कल्यानसिंह के मंत्री संग्रामसिंह का लड़का था। जब सन् १५७३ ईस्वी में रायसिंह गद्दी पर विराजमान हुए, तब उन्होंने करमचन्द को अपना दीवान बनाया। करमचंद बड़ा ही विद्वान् था। व्यवहारिक ज्ञान में वह बड़ा हस्तकुशल और राज्यनीति तथा शासन में बड़ा चतुर और दक्ष था। रायसिंह को गद्दी पर बैठे बहुत दिन नहीं हुए थे कि इतने में जयपुर के राजा अभयसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण कर दिया। यह समय बड़ा ही गड़बड़ का था। ऐसे भयंकर युद्ध के लिए राज्य बिलकुल ही तैयार नहीं था। इस घबराहट और चिंता में राजा ने अपने मंत्री से सलाह की। मंत्री ने अपनी प्रखर बुद्धि और विचार वैचित्र्य से यही सम्मति दी कि, शत्रु से संधि करली जाय। रायसिंह ने ऐसा ही किया। करमचंन्द के बुद्धिबल से राज्य की स्थिति ठीक बनी रही और बीकानेर में तब से सदैव आनन्द-मंगल रहा।

रायसिंह बड़ा हठी और जिद्दी था और प्रत्येक बात पर बिना विचारे शीघ्र ही विश्वास कर लेता था। उसमें सबसे बड़ा अवगुण यह था कि वह किसी बात के परिणाम की ओर ध्यान नहीं

‡ जैन-सम्प्रदाय-शिक्षा पृ० ६४६--४८।

देता था। यदि कोई दोष भी उससे वन जाता था और कोई उस की प्रशंसा कर देता तो वह वड़ा प्रसन्न होता था और उसको वहुत इनाम देता था। उसने अपने वाप दादों के द्रव्य को यों ही व्यर्थ खर्च कर दिया और नये नये क़िलों के वनाने में सारी आमदनी लगा दी। कितना ही रुपया उसने भाटों और चारणों को दे डाला। कहा जाता है कि एकवार शंकर नाम के एक भाट ने उस की प्रशंसा में कुछ कवित्त वनाये थे और रायसिंह को उसके दिल्ली से लौटने के समय पढ़कर सुनाये थे। रायसिंह उनको सुनकर इतना प्रसन्न हो गया कि उदारता के आवेश में आकर अपने मंत्री को आज्ञा दी कि, इस भाट को खिलअत और एक करोड़ रुपयों का इनाम दिया जाय। इस आदेश को मंत्री ने ठीक नहीं समझा। उसने राजा के साथ वड़ी देर तक इस विषय पर वहस की, परन्तु राजा ने इसपर इनाम को एक करोड़ से सवा करोड़ कर दिया! कहा जाता है कि एक करोड़ रुपया तो भाट को उसी दम दे दिया गया और वाक़ी के लिये राज्य की मालगुजारी गिरवी रखदी गई † सम्भव है कि यह वात

† टॉंक साहव के उक्त कथन की सत्यता निम्न नोट से और भी स्पष्ट हो जाती है:—

......"यदि चारणों की वात मानें और वीकानेर के इतिहास को सत्य जानें तो, यह राजपूताने के कर्ण ही थे। इनका पहला विवाह महाराणा उदयसिंहजी की राजकुमारी जसमादे से हुआ था। जिसमें इन्होंने दस लाख रुपये त्याग के वाँटे थे। जव चित्तौड़ के ज़नाने महल में जाने लगे तो राणाजी की दासियों ने एक ज़ीना दिखाकर कहा कि, जो कोई इसकी एक एक पैड़ी पर एक-एक हाथी दे, वह उसे होकर ऊपर जा सकता है, नहीं तो दूसरा रास्ता और भी है। महाराज उसी ज़ीने से ऊपर गये और गिनी तो ५० पैड़ियां थीं। दूसरे दिन दरवार करके ५०

अक्षरशः सच न हो; परन्तु इससे उस समय के राज्य-दरबार की

हाथी और ५०० घोड़े सिरोपाव समंत चारणों को दिये ।...महाराज ने जोधपुर में एक वर्ष तक रह कर बहुत से गाँव, हाथी-घोड़े और लाख पसाव (चारण भाटों को जो दान दिया जाता है उसका नाम उन्होंने पसाव रक्खा है । बड़े दान को जिस में गाँव भी हों अत्युक्ति से लाख पसाव और करोड़ पसाव कहते हैं) भाटों और चारणों को दिये । और तो क्या नागोर का परगना ही शंकरजी बारहट को दे दिया था । जिसका हाल आगे आवेगा । संवत् १६४५ में महाराज ने सवातीन करोड़ पसाव तीन चारणां को दिये । संवत् १६४९ में महाराज बुरहानपुर से जहाँ बादशाही काम को गये थे, आकर जैसलमेर को पधारे । वहां फाल्गुण बदी १ को रावल हरराज की बेटी गंगाबाई से शादी की । महाराज ने २०० घोड़े ५२ हाथी और दो लाख रुपये चारणों को दिये । संवत् १६५१ में फिर एक करोड़ पसाव शंकरजी बारहट को दिये । इसका हाल ख्यात में (इतिहास और यश सम्बन्धी ग्रन्थ) इस तरह पर लिखा है कि "शंकर ने महाराज की ख्यात बनाई थी । वह बहुत अच्छी तो नहीं थी परन्तु महाराज कीबख़शिश तो बड़ी थी । जिससे महाराज ने माघ बदी ५ को शंकरजी के मुजरा करते ही एक करोड़ देने का हुकम दिया । दीवान ने खजाने से १०००० थैलियां निकलवाई और अर्ज़ की कि, रुपये नज़र से गुज़ार कर दिलाने चाहियें । महाराज ने समझ लिया कि यह जानता है कि करोड़ रुपये देखकर महाराज की नीयत बदल जायेगी । जब दरबार हुआ और महाराज झरोख़े में बैठे तो उन्होंने फरमाया कि । "करमचन्द करोड़ रुपये यही हैं या कुछ और बाक़ी है ?" उसने अर्ज़ की कि पूरे हैं । महाराज ने फरमाया कि भई यह तो थोड़े हैं, मैं तो जानता था कि बहुत होते होंगे । शंकर से कहा कि सवा करोड़ का मुजरा करो, एक करोड़ तो यह ले जाओ और २५ लाख में नागौर तुम को दिया गया । कहते हैं शंकरजी ने नागौर की पैदावार कई वर्ष तक खाई थी ! (राजरसनामृत पहला भाग पृ० ३६-३८) —गोयलीय

दशा का पूरा पूरा पता लग जाता है। करमचन्द किस हालत में रहा, यह बात इससे खूब मालूम होजाती है। जिस कारण से राजा और मंत्री में झगड़ा हुआ और अन्त में मंत्री को हानि पहुँची, वह भी इस से प्रकट होती है। रायसिंह दिन दिन अपव्ययी होता गया, खजाना बिलकुल खाली होगया और मालगुजारी का सिलसिला बिगड़ गया। भविष्य भयंकर मालूम होने लगा। अन्त में करमचन्द ने बीका के राजघराने से भक्ति और प्रेम के कारण, अपव्ययी राजा को सचेत करने का एक बार फिर उद्योग किया; परंतु उसका परिणाम बड़ा भीषण हुआ। ऐसा कहा जाता है कि सन् १५९५ ईस्वी में रायसिंह को मालूम हुआ कि करमचन्द ने दलपतसिंह व रामसिंह को मेरी जगह गद्दी पर बैठाने के लिये षड्यंत्र रचा है और इस से करमचन्द अपने को राज्य में सबसे शक्तिशाली बनाना चाहता है। टॉड साहब लिखते हैं कि हम इन बातोंको माननेके लिये जिनकी न कोई साक्षी है न कोई सम्भावना है, तैयार नहीं हैं। हमको करमचन्द में ऐसी कोई बात मालूम नहीं होती कि जिससे वह अपने स्वामी के विरुद्ध षड्यंत्र रचता। वे लोग भी जो उसको दोषी बतलाते हैं उस व्यक्ति का नाम बताने में सहमत नहीं हैं, जिस के लिये षडयंत्र रचागया था, आया वह दलपतसिंह था या रामसिंह था, इसमें सबकी एक राय नहीं है इसके अतिरिक्त इस बात से कि अकबर ने जो रायसिंह का मित्र था और जिसका लड़का रायसिंहके यहाँ व्याहा था, कर्मचन्द का जब वह दिल्ली भागकर गया, बड़ा स्वागत किया, इससे पूर्णतया

सिद्ध होता है कि कर्मचन्द का षड्यंत्र से कोई सम्बन्ध न था और वह बिलकुल निर्दोषी था। हम सब इस बातको जानते हैं कि करमचन्द के साथ रायसिंहका कितना गहरा वैर था। अतः उसने करमचन्द को दिल्ली दरबार में नीचा और अपमानित करने के लिये भरसक उद्योग किया और शायद उसने अकबर से कहा भी हो कि, करमचन्द को हमें सौंप दो, अथवा उसको अपने यहाँ से निकाल दो, परंतु न्याय और नीति पर चलने वाले अकबर जैसे व्यक्ति ने एक क्षण के लिये भी करमचन्द की निर्दोषता पर शंका नहीं की। अकबर ने उस का बड़ा आदर-सत्कार किया। यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि जब करमचन्द निर्दोषी था, तब वह बीकानेर से क्यों भाग गया? जिन पुरुषों ने राजस्थान का इतिहास भलीभांति अध्ययन किया है और जिनके मानसिक नेत्रों के सामने इंद्रराज सिंघवी, अमरचन्द सुराणा जैसे व्यक्तियों की आकृतियाँ घूम रही हैं वे इस बात में हमारे साथ सहमत हो सकते हैं कि उस अवसर पर उस का भागना ही ठीक था। दुर्भाग्य से उन दिनों में ऐसे हतभाग्य मनुष्यों के लिये कि जिन पर राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का दोष लगाया गया हो, कोई न्यायालय भी नहीं था। गरज यह कि करमचन्द षड्यत्र के दोष से बिलकुल मुक्त था उसने सत्य और न्याय के कार्यों के लिये अपने प्राण न्योछावार कर दिये। वह किसी षड्यंत्र का रचयिता नहीं था, पर वह स्वयं षड्यंत्र का शिकार होगया। उसकी बुद्धिमानी और कर्त्तव्य तत्प-रता ही, जिनसे उसने राज्य को सम्हाल रक्खा था, उसके नाश का का-

रण हुई। उसने राजा को सन्मार्ग पर लाने के लिये दृढ़ संकल्प कर लिया था और उस के लिए उसने अटल विश्वास और अविश्रांत श्रम और उत्साह से जो सदा उन लोगों के पथप्रदर्शक होते हैं जो सत्य और न्याय मार्ग पर चलते हैं—उद्योग किया। उस के ऐसा करने से उन लोगों को बहुत ही बुरा मालूम हुआ, जो राजा को अपव्यय और दुराचार में फँसा हुआ देखना चाहते थे। धीरे धीरे दरबार में उन लोगों का ज़ोर बढ़ता गया और उन्होंने करमचन्द की तरफ़ से राजा के कान भरने शुरु किये और उस पर यह दोष लगाया कि उस ने राजा के लिये षड्यंत्र रचा है। अंधविश्वासी राजा ने जिसके अंधविश्वास के विषय में स्वयं मुग़ल-सम्राट जहांगीर ने लिखा है, उन सब मन घड़ंत बातों पर विश्वास करलिया, जो करमचन्द के शत्रुओं ने उस से कहीं थीं। उसने तत्काल करमचन्द को पकड़ने और उसे मार डालने का संकल्प कर लिया। करमचन्द के मित्रों ने, जो कुछ उसके विषय में दरबार में कहा गया था, वह सब उसको सुना दिया। ज्यों ही उसने राजा के हुक्म को सुना, त्यों ही वह बीकानेर से दिल्ली भाग गया और वहाँ अकबर की शरण में जा पहुँचा। दिल्ली नरेश ने उस अशरण अभ्यागत के ऊपर बड़ी ही कृपा की और उस को दरबार में एक उत्तम पद दिया। अकबर की दृष्टि में करमचन्द का महत्व दिन दिन बढ़ता गया और शीघ्र ही सम्राट् पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ गया।

जब रायसिंह को यह बात मालूम हुई कि करमचन्द दिल्ली

भाग गया है, तो उसने क्रोध में आकर प्रतिज्ञा और शपथ की कि, मैं उस से बदला लूंगा, परन्तु आगे चल कर यह बात मालूम होगी कि उसके विछोह से उसे कितना दुःख हुआ। जब करमचंद दिल्ली में था। उस समय भटनेर में एक अद्भुत घटना होगई, जिस से उस को रायसिंह से बदला लेने के लिए अच्छा मौक़ा हाथ लग गया; परन्तु हम इस को निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि, आया उसने इस अवसर से लाभ उठाया या नहीं। सन् १५९७ ईस्वी में जब रायसिंह भटनेर में ठहरा हुआ था, तब वहाँ पर सम्राट् का श्वशुर नासीरखाँ आगया। राजा ने तेजा बागौर को मेहमान की आवभगत और खातिरदारी करने के लिए नियुक्त किया। तेजा ने नासीरखाँ का स्वागत बिलकुल नवीन रीति से किया। जब खाँ-साहब धीरे धीरे चहलक़दमी कर रहे थे, उस समय तेजा ने अपने को पागल बना लिया और खाँसाहब पर जूतों से प्रहार करना शुरू कर दिया। खाँसाहब उसी समय दिल्ली को लौट गया और वहाँ जाकर उसने इस दुष्टता की सम्राट् से शिकायत की। सम्राट् ने राजा से बागी को माँगा; परन्तु राजा ने उसके हुक्म की कुछ भी परवाह नहीं की। इससे सम्राट् को बड़ा क्रोध आया और उसने रायसिंह से भटनेर् का राज्य छीनकर उसके लड़के दलपतसिंह को वहाँ का राजा बना दिया। हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि आया करमचन्द ने दरबार में खाँसाहब का पक्ष लिया था या नहीं; परन्तु रायसिंह को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया था, कि यह करम-चन्द की ही कार्यवाही है। पहिले ही राजा और मंत्री के बीच में

घोर वैर था, परन्तु इस बात से तो राजा और भी चिढ़ गया।

करमचंद ने अपने धर्म और जाति की जो सेवा की है उसको शब्दों में कदापि प्रकट नहीं किया जा सकता। अब तक वह संघ का उपकारी समझा जाता है। सन् १५५५ ईस्वी में बीकानेर में उसने खरतरगच्छ के आचार्य जिनचंद्रसूरि के शुभागमन के समय बड़े समारोह के साथ उत्सव किया था। जो कवि आचार्य महाराज के आगमन के शुभ समाचार करमचंद के पास लाया था, उसको करमचंद ने बहुत बड़ा इनाम दिया था।

१५७८ A.D. वि० सं० १६३५ के अकाल में उसने अन्न बटवाने के मुफ्त केन्द्र स्थापित करके भूखी प्रजा का दुःख दूर करने का प्रयत्न किया।

करमचंद बड़ा दानी था; परन्तु बईभाटों के साथ जो उसने विरोध किया था, उससे हम इतना अवश्य कहेंगे कि वह आलसी लोगों को दान नहीं देता था। जब वह दिल्ली में था, तो उसने अकबर के सरल निष्पक्ष स्वभाव को देखकर उसके हृदय में जैन-धर्म और जैनशास्त्रों से रुचि उत्पन्न करा दी थी। उसी की सलाह से अकबर ने उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् हीरविजयसूरि और जिनचन्द्रसूरि जैनाचार्य्यों को अपने दरबार में बुलाया था और उनको अपने साथ रक्खा था। सन् १५६२ ईस्वी में करमचन्द ने जिनसेनसूरि को गद्दी पर बैठालने का जल्सा बड़े समारोह के साथ लाहौर में किया। उसने मुसलमानों से जैनियों की बहुतसी मूर्तियाँ लीं जो उनके हाथ लग गई थीं और उन सबको बीकानेर के मंदिर
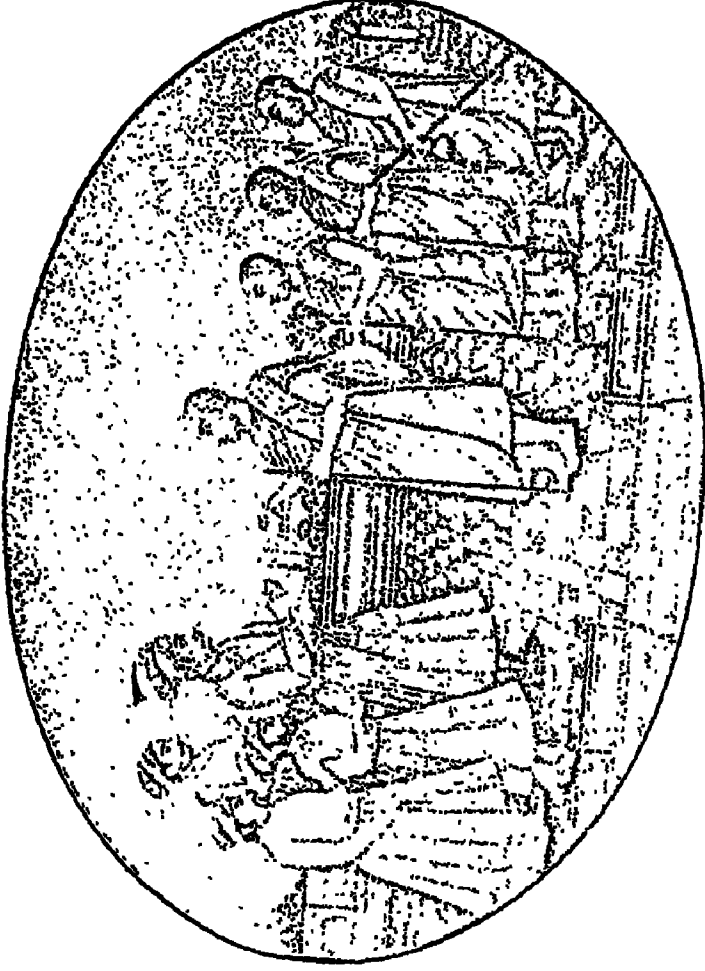
अकबर बादशाह श्वे. जैनसाधु हीरविजय का स्वागत कर रहे हैं।

में विराजमान किया। करमचंद ने बादशाह से जैनियों के लिये अनेक प्रकार के स्वत्व और दस्तूर प्राप्त करलिए थे। उसने ओसवाल जाति में भी बहुत से उपयोगी और आवश्यक सुधार किये थे।

अकबर सन् १६०५ ईस्वी में मर गया और करमचंद भी उसकी मृत्यु के बाद बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहा। जब रायसिंह नवीन सम्राट् (जहाँगीर) को आदाब बजा लाने के लिए देहली गया था उस समय करमचन्द घर में पड़ा हुआ मृत्यु के सन्निकट था। रायसिंह करमचन्द को देखने के लिए गया। उसे मरते देख कर उसने उसके लिए बाहरसे बड़ी सहानुभूति दिखलाई। करमचन्दके लड़के भागचन्द और लक्ष्मीचन्द उसकी सहानुभूति-दर्शक चिकनी चुपड़ी बातों में आगये और उन्होंने अपने पिता करमचन्द से कहा कि देखा पिता जी, महाराजा कैसे हितैषी और दयालु हैं। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए बाप ने क्रोध की दृष्टि से अपने लड़कों की ओर देखा और अस्पष्ट शब्दों में उनसे कहा कि—"लड़को, तुम अभी छोटे हो, तुमको अभी कुछ भी अनुभव नहीं है। खबरदार, खूब होशयार रहना। ऐसा न हो कि इसके झूठे आँसुओंको देख धोखा खाजाओ और बीकानेर जाने पर राजी हो जाओ। इस समय मैं गौरव के साथ मर रहा हूँ, यह देखकर ही राजा को दुःख हो रहा है।" इन शिक्षाप्रद और चेतावनी के शब्दों को कह कर करमचंद की अजर-अमर आत्मा ने स्वर्गलोक को प्रस्थान किया। राजा ने करमचंद के घरानें के लिए बहुत ही शोक और सहानुभूति प्रगट की और उसके लड़कों को बीकानेर लेजाने के लिए

हर प्रकार की कोशिशें कीं; परन्तु वे सब बेकार हो गई।

१५. भागचन्द १६. लक्ष्मीचन्द—

रायसिंह को अपने कुटिल और मायापूर्ण इरादे के पूरा न होने से बड़ा दुःख हुआ और वह किसी न किसी दिन बदला लेने के लिए इच्छा करता रहा। सन् १६११ ईस्वी में वह बहुत बिमार होगया और उसके रोग ने भयंकर रूप धारण कर लिया। जब उसने अंत समय निकट समझा, तब अपने पुत्र सूरसिंह को अपने पलंग के पास बुलाकर कहा "बेटा, मैं हताश होकर मरता हूँ। मेरी अंतिम शिक्षा तुम्हारे लिए यही है कि, तुम करमचंद बच्छावत के लड़कों को बीकानेर वापिस लाकर उनको उनके बाप के अपराध का दण्ड देना।" इन शब्दों को कहते ही रायसिंह का परलोक होगया। रायसिंह के मरने के बाद दलपतसिंह राज्य का अधिकारी हुआ, परन्तु वह केवल दो वर्ष तक राज्य कर पाया। सन् १६१३ में सूरसिंह राज्यसिंहासन पर बैठा। उसको अपने बापके मरते समय के शब्द याद थे और वह अपने कुटिल इरादे को पूरा करने के लिए उचित समय देख रहा था। राज्यसिंहासन पर बैठते ही वह दिल्ली गया। उसके दिल्ली जाने के दो अभिप्राय थे, एक तो मुग़ल-सम्राट को प्रणाम् करने के लिए, दूसरे बच्छावत कुलको बीकानेर लाने के लिए। उसका मतलब अच्छी तरह हल हो गया। वह वहाँ भगवानचंद और लक्ष्मीचंद से मिला और उनको उसने अनेक आशायें और विश्वास दिलाने के बाद अपने साथ बीकानेर चलने के लिए राज़ी कर लिया।

अपनी आत्मरक्षा के लिए सूरसिंह के झूठे वाक्यों से और अपने पुराने अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लेने की झूठी आशा से धोखा खाकर, बच्छावत भाइयों ने कुटुम्ब सहित अपनी जननी जन्मभूमि को प्रस्थान किया। उनको यह बात जानकर बड़ा आनन्द हुआ कि उनके देश-परित्याग के दिन अब समाप्त होगये हैं। अब वे शीघ्र अपने देश और देशबन्धुओं को देखेंगे। उनके हृदय में सूरसिंह के प्रति जो इस समय उनका झूठा और कल्पित उपकारी बन रहा था, बड़े बड़े विचार उत्पन्न हो रहे थे। बेचारे अभागे नवयुवकों को स्वप्न में भी इस बात का विचार न आया कि जितने वायदे किये गये हैं वे सब झूठे हैं और उनको यमलोक पहुँचाने वाले हैं। सूरसिंह ने अपने षड्यंत्र के गुप्त रखने में बड़ी सावधानी रक्खी। उसने अपने वर्तमान दीवान को निकाल दिया और जनसाधारण में इस बात की घोषणा करदी कि, अब इस पद पर उन्हींको नियुक्त करूँगा, जिनका इस पर हक़ है और जो इसके अधिकारी हैं। कुछ समय के बाद वे बीकानेर पहुँचे और प्रत्यक्ष में राजा ने उनके साथ बड़ी भलमनसीका व्यवहार किया; पर यथार्थ में उनका मरण अवश्यम्भावी हो गया था। उनको वहाँ आये हुए पूरे दो मास भी नहीं हुए थे कि एकाएक उनको एक दिन प्रातः काल यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनका मकान सूरसिंह के तीन हज़ार सिपाहियों ने घेर लिया है। अब इस समय उनको अपनी दशा का पूरा पूरा पता लग गया। अतः उन्होंने शत्रु के वश में पड़ना नीच कर्म समझ कर वीरता के साथ मरना ही उत्तम

समझा। उनके राजपूत नौकरों का छोटा सा समूह—जिसकी संख्या केवल पाँचसौ थी—अपने मालिकों के लिए चारों तरफ खड़ा होगया और अपनी कमर कसकर उनकी रक्षा करने को तैयार हो गया। प्रत्येक राजपूत लड़ाई की चोटों को सहने के लिए तैयार था और मरने के लिए साहस और धैर्य रखता था। बच्छावत और उनके साथी वीरोंकी भांति खड़े रहे; परन्तु यथार्थ में पूछा जाय तो कहना पड़ेगा कि यह न्याय की लड़ाई नहीं थी। यह केवल अन्याय था और आक्रमण करने वालों का बड़ा ही नीच और घृणित कर्म था। जब बचाव की सब आशायें निराशा में परिणत हो गईं तब दोनों भाइयों ने जो अपनी जैन-जाति के सच्चे वीर थे, अपने वंश का नाम क़ायम रखने के लिए प्रण ठान लिया। उन्होंने हताश हो कर अपनी भयंकर परन्तु प्राचीन प्रथा जौहर की शरण ली। प्राणनाशक चिता तैयार की गई और उसमें तमाम स्त्रियाँ जल कर भस्म हो गईं। स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों, बीमारों सभी ने अपने प्राण दे दिये। कितने ही तलवार से कट कर मर गये और कितने ही अग्नि की ज्वाला में कूद पड़े। ज्यों ही धुंवें के गुब्बारे घेरा बनाते हुए ऊपर को उठे, त्यों ही रक्त की नदियाँ बह निकलीं। एक भी मरने से नहीं हिचकता था। समस्त बहुमूल्य पदार्थ नष्ट कर दिये गये और कुए में फेंक दिये गये। इसके पश्चात् बच्छावत भाइयों ने अर्हत्परमेष्ठी को नमस्कार किया और अन्त समय केशरिया बाना पहिन कर एक दूसरे को छाती से लगाया। तदनंतर उन्होंने हवेली के द्वार खोल दिये और

वे तलवार हाथ में लेकर बाहर निकल पड़े। वे बड़ी वीरता से लड़े और मर गये। उनके मरने के बाद उनके घर गिराकर धराशायी कर दिये गये। राजा ने वच्छावत कुल का समूल नाश करने की बड़ी कोशिश की; परन्तु प्रकृति ने इसके प्रतिकूल ही किया। वच्छावत-वंश की एक महिला इस क़त्ले आम में से बड़ी चालाकी से भाग निकली और अपने बाप के यहाँ किशनगढ़‡ जा पहुँची। वहाँ पर उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ और इस प्रकार वीर वच्छावत वंश की रक्षा हुई †।

सूरा सो पहिचानिये लड़े आन के हेत।
पुरज़ा पुरज़ा कट मरे तोऊ न छोड़े खेत॥

—अज्ञात

[१ जनवरी ३३]

ऊपर जिन बीकानेर नरेश रायसिंह का जिक्र आया है उनके एक भाई अकबर बादशाह के यहाँ रहते थे। उनकी एक घटना को लेकर सन् २८ में एक छोटीसी कहानी लिखी थी, जो "वीर-सन्देश" (आगरा) और "जैन प्रकाश" (बम्बई) में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि वह कहानी प्रस्तुत पुस्तक के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखती है फिर भी प्रसंगवश यहाँ दी जा रही है।

‡ यह महिला उदयपुरके भामाशाह की पुत्री थी, और उस लड़ाई केअवसर पर वह पहले से ही उदयपुर गई हुई थी, और गर्भवती होने के कारण इसने वहीं पुत्र प्रसव किया, इससे आगे का उल्लेख "भामाशाह की पुत्री का घराना अथवा वच्छावतोंका अंतिम वंश" शीर्षक से मेवाड़ के खण्ड में देखिये—गोयलीय।

† जैन-हितैषी भाग १२ अङ्क २-३ से।

वीर-नारी

युवती ने क्रोध के वेग को रोक कर कहा— "कवीजी! कविता फिर भी रची जायगी, इस समय अपनी बहन की इज्ज़त बचाओ"

यह कवि बीकानेर महाराज रायसिंह के भाई थे। जब बीकानेर-नरेश ने अपनी लड़की अकबर को दी, तो इन्होंने उनका तीव्र प्रतिवाद किया और वे लड़ने के लिए तैयार हो गये। इस पर वे आगरे में नज़र क़ैद कर लिये गये। इन्हें कविता करने का व्यसन था। अकबर बादशाह इनकी कविता चाव से सुनता था। हर समय इन्हें यही एक धुन रहती थी। इनका नाम पृथ्वीराज था। अन्यमनस्क भाव से बोले "क्यों क्या हुआ? प्राणप्रिये! इस समय मुझे क्षमा करो, मुझे एक समस्या पूर्ति करनी है, इसलिये···"

युवती—(बात काटकर) तो साफ़ क्यों नहीं कहते, कि इस समय चली जा, नहीं तो कविता अच्छी न बन सकेगी।

पृथ्वी—अच्छा यही समझ लो।

युवती—मैं खूब समझ चुकी हूँ। यदि यही अकर्मण्यता न होती, तो आपको इस प्रकार दासत्त्व-वृत्ति स्वीकार नहीं करनी पड़ती। देश के ऊपर आपत्ति की घनघोर घटा छाई हुई है, सगी बहन का सतीत्त्व नष्ट हो रहा है और आप कविता करने बैठे हैं। धिक्कार है आपकी कविता को, फटकार है आपकी बुद्धि को, लानत है आपकी

सूझ को!

पृथ्वी—तो क्या कविता करना छोड़ दूं?

युवती—अवश्य!

पृथ्वी—ध्यान रहे संसार में सब वस्तु मिट सकती हैं, परन्तु कृति नहीं मिटती!

युवती—मैं सौगन्द पूर्वक कहती हूँ कि संसार में सब कुछ मिट सकता है, परन्तु कुल में लगा हुआ कलंक कभी नहीं मिटता।

पृथ्वी—कविता से सैनिकों के हृदय में वीर-भाव उत्पन्न होते हैं। चन्दवरदाई का नाम उसकी कविता के कारण अमर होगया है।

युवती—हाँ, यदि कविता में हृदय के भाव हों, और स्वयं कवि भी अपने कथनानुसार कर्मवीर हो तब न? जब लोगों को यह मालूम होगा कि यह कृति उस अकर्मण्य की है, जो परतंत्रता के बन्धन में जकड़ा हुआ था, जो अपनी बहन का सर्वनाश आँखों से देखता रहा, तब वह आपकी कृति का उपहास करेंगे। चन्द वरदाई का नाम कविता के कारण नहीं, उसकी वीरता के कारण अमर है।

पृथ्वी—साहित्य और संगीत से रहित मनुष्य पशु है।

युवती—लेकिन यदि किसी घर में आग लगी हो, तो उसके निवासियों को गाते बजाते देखकर तुम क्या कहोगे?

पृथ्वी—मूर्ख कहूँगा और क्या?

युवती—क्यों? गाना तो कोई बुरी चीज नहीं।

पृथ्वी—बुरी चीज नहीं, किन्तु उस समय उसकी आवश्यकता

नहीं। समय पर ही सब कार्य अच्छे लगते हैं।

युवती—बस आपके कथनानुसार फैसला हो गया। कविता करना बुरा नहीं, किन्तु इस समय उसकी आवश्यकता नहीं।

पृथ्वी—इसका तात्पर्य ?

युवती—यही कि आप क्षत्री हैं। भारतमाता को इस समय वीर-पुत्रों की आवश्यकता है। आप ही सोचलें यदि आज वीर राजपूत समस्या-पूर्ति में लगे रहें, तो फिर देश की समस्या को कौन हल करेगा ?

पृथ्वी—तो तुम क्या चाहती हो ?

युवती - यही कि देश सेवा के व्रत में केशरिया बाना पहन कर शत्रुओं का संहार करो। आज इनके अत्याचारों से भारतमाता रुदन कर रही है, स्त्री बच्चों की गर्दनों पर निर्दयता पूर्वक छुरी चलाई जा रही है, वीर ललनाओं का बलपूर्वक शील नष्ट किया जा रहा है। अतएव इस समय कविता करना योग्य नहीं। प्रताप का साथ दो, प्राणनाथ ! प्रताप जैसे बनो !

कहते कहते युवती का गला रुँध गया वह अब अपने को अधिक न सम्हाल सकी। लज्जा, घृणा, मानसिक सन्ताप आदि ने उसे बोलने में असमर्थ कर दिया। वह अपने पति के पाँवों में पड़कर फूट २ कर रोने लगी। युवती के रुदन में कुछ बेबसी का ऐसा अंश था, कि पृथ्वीराज का कठोर हृदय भी पिघल गया और उत्सुकता से उसके दुःख का कारण पूछने लगे।

❀ ❀ ❀

जिस समय यवन बादशाह अकबर के हाथ में भारतवर्ष के शासन की बागडोर थी, उस समय वीर-चूड़ामणि प्रताप को छोड़-कर सभी राजे अपनी स्वाधीनता खोकर, पूर्वजों की मान-मर्यादा को तिलांजली देकर दासत्व-वृत्ति स्वीकार कर चुके थे। जोधपुर का राजा उदयसिंह अपनी बहन जोधाबाई और आमेर का राजा मानसिंह अपनी बहन का सम्बन्ध बादशाह से करके राजपूत जैसे उज्वल कुल में कलंक लगा चुके थे। महाराणा प्रताप के छोटे भाई शक्तसिंह भी घरेलू झगड़ों के कारण अकबर से आ मिले थे। इन्हीं शिशोदिया-वीर शक्तसिंह की कन्या बीकानेर के राजकुमार पृथ्वीसिंह को व्याही थी। शक्तसिंह यद्यपि इस समय "घर का भेदी लंका ढावे" इस कहावत के निशाने बन रहे थे, किन्तु उनकी कन्या के हृदय में मातृभूमि के प्रेम का अंकुर फूट निकला था। वह क्षत्राणी थी; उसे अपने कुल की मानमर्यादा का पूरा ध्यान था। उसके कुल की असंख्य वीरांगना जीते जी आग में कूद कर मरी हैं, रण-क्षेत्र में शत्रुओं का रक्त बहा कर राजपूती शान दिखा गई हैं, इत्यादि बातों का उसे पूरा ज्ञान था। वह भी अपने पति के साथ आगरे में रहती थी। अकबर अपनी काम वासनायें तृप्त करने के लिये अनेक राक्षसी यत्न करता रहता था। अपनी विलासिता के लिये वह आगरे के क़िले में महिने में एक बार मीना बाज़ार लगवाता था। उसमें केवल स्त्रियों के जाने की आज्ञा थी। राजपूत और मुसलमान व्योपारियों की स्त्रियाँ अनेक देशों के शिल्पजात पदार्थ लाकर उस मेले में कारबार किया करती थीं।

और राज-परिवारों की स्त्रियाँ वहाँ जाकर मनमानी सामग्री मोल लिया करती थीं। पाखण्डी अकबर भी भेष बदले हुये वहाँ जाता था और किसी न किसी सुन्दर युवती को अपने षड्यंत्र में फांस लिया करता था। एक समय पृथ्वीराज की पत्नी किरन भी उक्त मीना बाजार की सैर करने गई। अकबर ने इसे धोखे से भुलावा देकर महलों में बुला लिया। किरन अकबर के पैशाचिक भाव को ताड़ गई, लपक कर उखेड़ में बैठ बादशाह को दे मारा और कमर से एक छुरा निकाल बादशाह की छाती पर बैठ सिंहनी की तरह गरज कर बोली "ईश्वर के नाम से शपथ करके कह, कि और किसी अबला के शील नष्ट करने की इच्छा नहीं करूँगा। कह शपथ कर, नहीं तो यह तीक्ष्ण छुरी अभी तेरे हृदय के रुधिर से स्नान करेगी।" कायर अकबर प्राणों की भिक्षा मांगने लगा, उसने तत्काल वीर बाला की आज्ञा का पालन किया। वीर-नारी किरन ने भी अकबर को जीवन दान दिया।

इसी घटना से घायल सिंहनी की तरह जब किरन अपने मकान पर आई, तब वहां पृथ्वीराज को कविता करते देख, वीर बाला का क्रोधरूपी समुद्र उमड़ आया और उसी आवेश में अपने पति को उसके क्षत्रियोचित कर्त्तव्य का ज्ञान कराने के लिये भूठ मूठ अपनी ननद का नाम ले दिया! शिशोदिया राज-कन्याओं ने हमेशा धर्म के लिये जान दी है। उन्होंने कभी अपने उज्वल कुल में कलङ्क नहीं लगने दिया, यही कारण है कि उस समय जिसको शिशोदिया राजकुमारी ब्याही जाती थी; वह मारे गर्व के फूल ऊठता

था, लोग उसके भाग्य की सराहना करते थे। चित्तौड़-राजकुमारी पटरानी रहेगी, उसी की सन्तान राज्य की उत्तराधिकारिणी होगी, इन शर्तों पर वे ब्याही जाती थीं। इसी वीर-बाला किरन ने महाराणा प्रताप का सन्धिपत्र जो अकबर के पास आया था, उसके उत्तर में अपने पति पृथ्वीराज से एक वीरोचित शब्दों में पत्र लिखवाया था, जिसे पढ़कर महाराणा प्रताप फिर अपने खोए हुये धैर्य को प्राप्त कर सके थे†। हे भगवान्! क्या अब भी हिन्दू ललनायें उक्त वीर बाला के समान अपनी शील-रक्षा करने को उद्यत रहेंगी ‡ ?

(मई सन् २८)

† अकबर के पास राणा प्रताप के सन्धि-पत्र भेजने की घटना को मान्य ओझाजी ने कल्पित लिखा है।

‡ जिस समय पृथ्वीराज की रानी ने अकबर को ऐसी शिक्षा दी, उन्हीं के भाई उक्त बीकानेर के राजा रायसिंह की स्त्री अकबर के दिये हुये लालच में फँस गई और उसने अपना अमूल्य सतीत्व अकबर के हाथ बेच डाला। पृथ्वीराज ने अपने भाई से इस घटना का वृत्तान्त बड़े मर्मभेदी शब्दों में कहा था।

दीवान अमरचन्द सुराना ।

अमरचन्द बीकानेर के प्रतिष्ठित ओसवाल जाति के एक जैन थे। महाराज सूरतसिंह के समय में जिनका राज्य-काल सन् १७८७से १८२८ तक रहा है, इन्होंने बहुत प्रसिद्धि पाई।

सन् १८०५ ईस्वी में अमरचन्दजी भाटियों के ख़ान जाब्ताखाँ से युद्ध करने के लिए भेजे गये। इन्होंने खान पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी भटनेर को घेर लिया। पाँच मास तक क़िले की रक्षा करने के बाद जाब्ताखाँ ने क़िले को छोड़ दिया और उसको अपने साथियों के साथ रैना जाने की आज्ञा मिल गई। इस वीरता के कार्य के उपलक्ष्य में राजा ने अमरचन्दजी को दीवान पद पर नियत कर दिया।

सन् १८१५ ईस्वी में अमरचन्दजी सेनापति बनाकर चूरु के ठाकुर शिवसिंह के साथ युद्ध करने को भेज दिये गये। अमरचन्द ने शहर को घेर लिया और शत्रु का आना जाना रोक दिया। जब ठाकुर साहब अधिक काल तक न ठहर सके, तो उन्होंने अपमान की अपेक्षा मृत्यु को उचित समझा और आत्मघात कर लिया। अमरचन्दजी की वीरता से प्रसन्न होकर महाराजा साहब ने उसको राव की पदवी, एक खिलअत तथा सवारी के लिए एक हाथी प्रदान किया *।

* जैन-हितैषी भाग ११ वाँ अंक १०–११ से.

जैसलमेर

साहित्य का विस्तार अब भी है हमारा कम नहीं,
प्राचीन किन्तु नवीनता में अन्य उसके सम नहीं;
इस क्षेत्र से ही विश्व के साहित्य-उपवन हैं बने,
इसको उजाड़ा काल ने आघात कर यद्यपि घने ॥

—मैथिलीशरण गुप्त
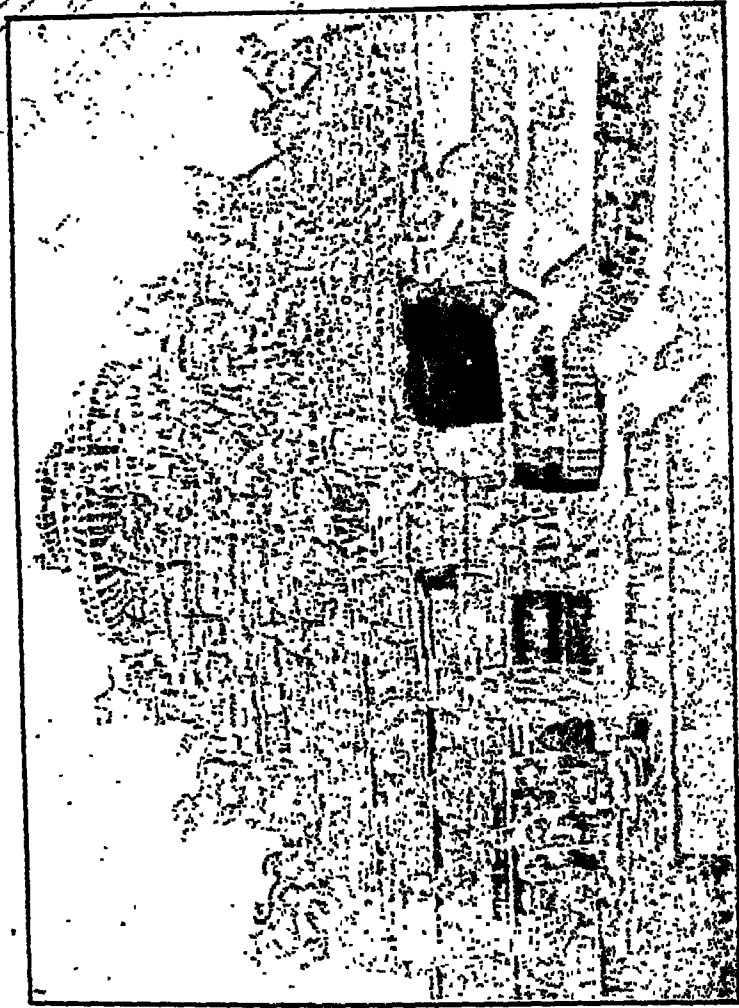
जैसलमेर—श्री शान्तीनाथ—मन्दिर के शिखर का दृश्य

जैसलमेर-परिचय

राजपूताने के पश्चिमी भाग में जोधपुर से १४० मील से अधिक दूरी पर जैसलमेर क़स्बा है। जैसलमेर की राज्य की चौहद्दी इस प्रकार है:— उत्तर में बहावलपुर, उत्तर-पूर्व में बीकानेर, पश्चिम में सिन्ध, दक्षिण व पूर्व जोधपुर।

जैसलमेर का राजकुल "यदुवंशी" राजपूत है। रावल जैसवाल ने जैसलमेर सन् ११५६ में बसाया था। यहाँ पर वर्षा बहुत कम होती है। पृथ्वी रेतीली और उजाड़ है। लोग वर्षात् के रक्खे हुये पानी से गुजारा करते हैं। जैसलमेर की आबो-हवा सूखी है। जैसलमेर नगर बामेर स्टेशन से ९० मील है। पहाड़ी पर बने हुये क़िले के अन्दर ८ जैन-मन्दिर हैं, जो अत्यन्त सुन्दर हैं। इसमें खुदाई का काम अच्छा है। कई मन्दिर १००० वर्ष पुराने हैं। श्री पार्श्वनाथका मन्दिर अत्यन्त मनोज्ञ है; जिसको जैसिंह चोलाशाह ने सन् १३३२ में बनवाया था।

साहित्य-भण्डार

जब जान को लोग हथेली पर लिये फिरते थे, और सुकुमार बालकों, बिलखती हुई युवतियों और डकराती हुई मांओं को छोड़कर, प्राणों का तुच्छ मोह त्याग, युद्ध में जूझ मरने को सदैव प्रस्तुत रहते थे; तब हमारे उन्हीं वीर पुरुखाओं ने अपने सीने से लगाकर जैन-ग्रंथों की रक्षा की थी। आज हम अकर्मण्य और कापुरुषों के कारण भले ही वह चूहे और दीमकों की उदरपूर्ति का साधन बन रहे हों, पर हमारे पूर्वज जान और माल से अधिक साहित्य का महत्व समझते थे, यह अब भी उन बचे हुये ग्रंथों से ध्वनित होता है। ‡

---

‡ श्रद्धेय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने एक बार लिखा था:—"जैनधर्मावलम्बियों में सैंकड़ों साधु महात्माओं और हजारों विद्वानों ने ग्रन्थ रचना की है। ये ग्रन्थ केवल जैनधर्म ही से सम्बन्ध नहीं रखते, इनमें तत्त्व-चिन्ता, काव्य नाटक, छन्द, अलंकार, कथा-कहानी, इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं। जिनके उद्धार से जैनेतर जनों की भी ज्ञान-वृद्धि और मनोरंजन हो सकता है। भारतवर्ष में जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसके अनुयायी साधुओं और आचार्यों में से अनेक जनों ने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रन्थ-रचना और ग्रंथ-संग्रह में खर्च कर दिया है। इनमें कितने ही विद्वान् बरसात के चार महिने बहुधा केवल ग्रन्थ लिखने में ही बिताते रहे हैं। यह

ये ग्रंथ केवल जैनों के ही लाभ के लिये नहीं, अपितु इनमें भारतवर्ष के इतिहास की भी बहुत अधिक सामग्री बिखरी हुई पड़ी है'। पूज्य ओझाजी के इतिहास से सूचित होता है कि मेवाड़ के प्राचीन इतिहास की शोध एवं सत्यासत्य का निर्णय विशेष कर इन्हीं जैनग्रन्थों से हुआ है। मेवाड़ के रावल जैत्रसिंह, तेजसिंह, आदि के समयादि निर्णय में पूज्य पं० ओझाजी को मेवाड़ में उस समय के बने हुये "ओघनिर्युक्त" तथा "पाक्षिक सूत्र वृत्ति" आदि ग्रन्थों से सहायता मिली है। ये ग्रंथ इस समय गुजरात में खम्भात के मन्दिर में हैं। इनके अलावा पूज्य ओझाजी ने अपने इतिहास में निम्न जैन-ग्रंथों से खोज सम्बन्धी सहायता मिलने का उल्लेख किया है :—

१ हम्मीर महा काव्य, २ हम्मीर मद-मर्दन, ३ तीर्थकल्प, ४

उनकी इस प्रवृत्ति का फल है, जो बीकानेर, जैसलमेर, नागोर, पाटन और खंभात आदि स्थानों में हस्तलिखित पुस्तकों के गाड़ियों बस्ते अब भी सुरक्षित पाये जाते हैं।"

इतिहास तिमिरनाशक में लिखा है कि "एक अंग्रेज विद्वान ने एक बार जैनग्रन्थों की सूची बनाने का प्रयत्न किया तो, उसकी संख्या लाखों और करोड़ों तक पहुँची।"

+ टॉड साहब लिखते हैं:—"यदि ध्यान से जैनधर्म की पुस्तकों को बांचा जाय, जिनमें कि उन सब विद्या सम्बन्धी बातों का वर्णन है, जिनको प्राचीन समय के लोग जानते थे, तो हिन्दु-जाति के इतिहास की बहुतसी त्रुटियां पूर्ण हो सकती हैं। (टाड राजस्थान प्र० भा० भू० पृ० ६)

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णिका, ५ मेहता नैणसी की ख्यात †, ६ कितने ही जैनशिला-लेख।

सेठ लोलाक ने "उन्नत शिखर पुराण" नामक दिगम्बर जैन पुस्तक बीजोल्याँ (मेवाड़) के पास एक चट्टान पर वि० सं० १२२६ में खुदवाई थी, सो अब तक सुरक्षित है।

प्राचीन जैनों ने वीरता, धीरता, कला-कौशल, शिल्पचातुर्यता, चित्रकारी, संगीत आदि के समान साहित्य के—आध्यात्मिक, नीति, ज्योतिष, व्याकरण, न्याय, काव्य, वैद्यक, इतिहास—प्रत्येक विषय के ग्रन्थों का निर्माण करके अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। ये ग्रन्थ-रत्न भारत के भिन्न-भिन्न जैन-भण्डारों में भरे पड़े हैं। राजपूतानान्तरगत जैसलमेर के भण्डार में भी जैन-ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया गया है। यहाँ अनेक प्रकार के संस्कृत, प्राकृत, मागधी, अपभ्रंश शौरसेनी, पाली, गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ मौजूद हैं, कितने ही ऐसे अजैन ग्रन्थ यहाँ संग्रहीत हैं, जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते। हजारों माइल दूर से यूरोपियन और भारतीय विद्वान् यहाँ आकर ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं और प्रशस्ति, ग्रन्थ, ग्रन्थ-

---

† मेहता नेणसी को स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी "राजपूताने का अब्बुल-फ़ज़ल" कहा करते थे। ओझाजी ने लिखा है कि "टाडसाहब को नेणसी की ख्याति देखने का मौक़ा मिला होता, तो आज, टाडराजस्थान किसी और ही रूप में होता" मेहता नेणसी का और उनके ग्रन्थों का परिचय पृ० २०० में देखिये।

कर्ता आदि का नाम लिखकर ले जाते हैं और उस पर साहित्य के उत्तमोत्तम लेख लिखते हैं। साहित्यसेवी "ओरियण्टल गायकवाड़ सीरीज़" को भी यह कार्य अत्यावश्यक प्रतीत हुआ इसीलिये इस संस्था ने साहित्य के महान् विद्वान् श्रीयुत श्रावक चिम्मनलाल जी दलाल एम. ए. को जैसलमेर भेजकर कई एक सुन्दर ग्रन्थों की टिप्पणी कराई थी, और बाद में उनकी अकाल मृत्यु हो जाने पर सेण्ट्रल लायब्रेरी के जैन पण्डित श्रावक लालचन्द भगवानदासजी गान्धी ने उन टिप्पणियों को व्यवस्थित करके उन पर संस्कृत भाषा में इतिहासोपयोगी एक टिप्पण लिखा था, उस टिप्पण को "जैसलमेर-भाण्डारागारीयग्रन्थानांसूची" नाम से उपर्युक्त सीरीज़ ने अपने २१ वें ग्रन्थ के तौर पर सन् १९२३ में, प्रस्तुत पुस्तक के आकार वाले ३४० पृष्ठों में प्रकट किया था। जैसलमेर के भण्डाराधिकारी कुछ उदार-हृदय होने के कारण वहाँ के ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। किन्तु जैसलमेर के अलावा अन्य जैन-भण्डारों के अधिकारी संकुचित विचार के हैं, वे उन्हें दिखाना तो दूर किनार, धूप और हवा भी नहीं लगने देते, जिससे वे बस्ते में बन्ध २ सड़ रहे हैं। वर्तमान जैनसमाज के धनिक इस ओर से बिल्कुल उदास हैं। वे अपने पुत्र और पुत्रियों की शादी में जी खोलकर द्रव्य लुटाते हैं, जिनवाणी माता को रेशमीन वस्त्रों से सजाते हैं, उसकी नित्यप्रति पूजा करते हैं, किंतु उसकी रक्षा के लिये उनके पास एक पैसा भी नहीं है। इसका कारण शायद यही है कि, वर्तमान जैनसमाज सरस्वती (जिनवाणी)

का उपासक न रह कर लक्ष्मी का उपासक बन गया है। और उलूकवाहन लक्ष्मी के उपासक, सरस्वती का अस्तित्व और प्रतिष्ठा देख नहीं सकते। यदि सत्य बात कहना अपराध न समझा जाय, तो मैं कहूँगा कि जहाँ हमारे पूर्वजों ने संसार के प्रत्येक कार्य का सम्पादन करके अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है, वहाँ हमारे जैसे कृतघ्नी-पुत्रों को जन्म देकर भारी मूर्खता का भी परिचय दिया है। नहीं तो क्या कारण है कि, जब संसार की सभी जातियाँ अपने पूर्वजों की कृतियों और कीर्तियों के उत्थान का भरसक प्रयत्न कर रही हैं, तब हम हाथ पर हाथ धरे निश्चिन्त बैठे हैं। हमारी इस अकर्मण्यता को लक्ष करके ही शायद स्वर्गीय "चकबस्त" ने कहा था:—

मिटेगा दीन भी और आबरू भी जायेगी।
तुम्हारे नाम से दुनियां को शर्म आयेगी॥

[२८ जनवरी सन् ३२]

जैसलमेर के वीर

मेहता स्वरूपसिंह

स्वरूपसिंह जयसलमेर राज्य का एक शक्तिशाली मंत्री था। यह जाति का वैश्य जैनधर्म को मानने वाला और मेहतावंश में उत्पन्न हुआ था।

संवत् १८१८ (सन् १७६२ ई०) में जयसलमेर के राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त होनेवाले राजा मूलराज का यह मंत्री था। राजा मूलराज इस पर अत्यन्त प्रसन्न थे और यह स्वयं भी एक नीति-निपुण पराक्रमकारी मंत्री था। यही कारण था कि ईर्ष्यालु और स्वार्थी इस से जलने लगे और इसे अनेक प्रकार से बदनाम करने लगे। किन्तु स्वरूपसिंह इन बातों से घबड़ानेवाला नहीं था, उसने अपने गौरव और रुत्बे से जलने वालों की तनिक भी परवाह नहीं की। किन्तु अन्त में कुचक्रियों का चक्र चल ही गया।

मेहता स्वरूपसिंह ने युवराज रायसिंह को राज्य की ओर से मिलने वाले जेब खर्च को नियमित कर दिया था, वह नहीं चाहता था, कि प्रजा की गाढ़ कमाई से संचित किया हुआ कोष अपव्यय किया जाय। इसलिये युवराज रायसिंह भी मेहता स्वरूपसिंह पर खार खाये रहते थे। मेहता स्वरूपसिंह के ईर्ष्यालुओं ने उन्हें

और भी भड़का दिया। मेहता स्वरूपसिंह को अपने पथ से हटाने का युवराज को यह अवसर अनायास ही मिल गया। और सरे दरबार मेहता स्वरूपसिंह को बैठे हुये अचानक शहीद कर दिया। राजा मूलराज ने अपने पुत्र की यह धृष्टता देखी तो वह क्रोध से अधीर हो उठे किन्तु अपने पुत्र की संहारमूर्ति और सामन्तों की हिंसक अभिलाषा देखकर मूलराज मारे जाने के भय से अन्तःपुर में चले गये। अन्त में युवराज रायसिंह ने सामन्तों के परामर्श से अपने पिता को भी कारागृह में डाल दिया और आप जैसलमेर के राज्यसन पर आरुढ़ हुये।

[३० जनवरी ३३]

मेहता सालिमसिंह

महाराज मूलसिंह तीनमाह चारदिन तक कारागार की यन्त्रणा सहन करने के पश्चात् एक वीर रमणी की सहायता से मुक्त होकर पुनः सिंहासनारुढ हुये। महाराज मूलसिंह के सिंहासनारुढ होते ही युवराज रायसिंह और उसके साथी सामन्त निर्वासित कर दिये गये।

पूर्व परम्परा के अनुसार महाराज मूलसिंह ने अपने पुराने मंत्री स्वरूपसिंह के मारे जाने पर उसके सुयोग्य पुत्र सालिमसिंह को अपने मंत्री पद से विभूषित किया। स्वरूपसिंह की शोक पूर्ण मृत्यु के समय यद्यपि सालिमसिंह केवल ११ वर्ष का था, फिर भी उस अल्पवयस्क के हृदय में प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्वलित हो चुकी थी। वह अपने पिता के निर्दयी घातकों से वदला लेने के लिये समय की प्रतीक्षा करने लगा। एकवार जब सालिमसिंह राजा की आज्ञा से जोधपुर नरेश के राज्यासीन होने पर अभिनन्दन देख कर वापिस लौटरहा था, तब मार्गमें स्वरूपसिंह के शत्रुओं ने इसे भी धोखे से वध करने के लिये पकड़ लिया, किन्तु सालिमसिंह अत्यन्त नीतिनिपुण और मितभाषी था। उसने अपनी वाक्य-पटुता में शोणित-लोलुप सामन्तों को फँसा लिया और अत्यन्त चतुरता से अपने जीवन की रक्षा की। अन्त में दया के वशीभूत

होकर उन सब निर्वासित सामन्तों को उनके देश व जागीर मेहता सालिमसिंह ने रावल मूलराज से दिलवा दिये।

निर्वासित आज्ञा और देश वापिस दिला देने के बाद भी विद्रोही सामन्त शान्ति से न बैठे रहे। वे रावल मूलराज के पुत्र और पौत्रों को लेकर विद्रोह की अग्नि भड़काने के प्रयत्न में लगे रहे और साथ ही सालिमसिंह के नाश का भी षड्यंत्र रचने लगे। जब उसने राज्य को और अपने को इस प्रकार खतरे में पड़ा देखा तो उसकी पुरानी प्रतिहिंसा की आग फिर प्रज्वलित होगई। अन्त में उसने लाचार होकर राज्य के और अपने पुराने शत्रुओं को संसार से बिदा करके अपने पिता के बध का बदला लिया।

यद्यपि टॉड् साहब ने सालमसिंह के उक्त कार्य की निन्दा की है, पर इस पर यदि तनिक विचार किया जाय तो मालूम होगा कि प्राचीन समय में ऐसा सदैव होता आया है। जो पिता के घातक से बदला नहीं ले सकता था, वह सुयोग्य पुत्र कहलाने का अधिकारी ही नहीं था। इसी सालिमसिंहने अंग्रेजों के साथ संधि करने में बड़ा विरोध किया था।

[३१ जनवरी सन् ३३]

मेरवाड़ा-अजमेर

कर्तव्य करके वीर जो बलिहार हुये हैं।
वह अपनी जाती के लिये शृङ्गार हुये हैं॥

खोया अधर्म, धर्म की रक्षा जिन्होंने की,
सच पूछिये तो बस वही अवतार हुये हैं॥

—राधेश्याम

अजमेर-परिचय

अजमेर की चौहद्दी इस प्रकार है—उत्तर-पश्चिम में जोधपुर, दक्षिण में उदयपुर, पूर्व में जयपुर।

बम्बई बड़ौदा एण्ड सैन्ट्रल इण्डिया रेलवे और मालवा शाखा का "अजमेर" जंकशन स्टेशन है। स्टेशन पर सवारी हरवक्त किराये पर मिलती हैं। राजपूताने के मध्य भाग में प्रायः चारों तरफ से पहाड़ियों से घिरा हुआ अजमेर एक प्रसिद्ध शहर है।

प्राचीन काल में मुसलमानों के आने से पूर्व यह शहर दिल्ली सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के पूर्वज राजा "अजपाल" ने संवत् २०२ (सन् १४५ ई०) में बसाया था। यह शहर एक पहाड़ी के नीचे ढालू जमीन पर आबाद है—उत्तर और पश्चिम की तरफ पत्थर की दीवारों से घिरा हुआ है। शहर में जैन, हिन्दुओं आदि के कई मन्दिर व मुसलमानों की मस्जिदें अति सुन्दर बनी हुई हैं। मन्दिरों में विशेष कर सेठ नेमीचन्द टीकमचन्द की बनवाई हुई नशिया बहुत ही मनोज्ञ, मनोहर और दर्शनीय है। यहाँ दिगम्बर जैनियों के शिखरबन्द मन्दिर १३ और २ चैत्यालय हैं। धर्मशास्त्र ७००० के लगभग हैं। शहर के उत्तर की तरफ एक बड़ी सुन्दर "अनासागर" नामक झील है। जिसको विशालदेव के पोते राजा "आना" ने बनवाई थी। यह झील ६०० गज लम्बी और १०० गज चौड़ी है, कई नालों का पानी रोककर बनाई गई है। वर्षाऋतु

में इस झील का घेरा क़रीब ६ मील के हो जाता है । झील के निकट जहाँगीर बादशाह का बनवाया हुआ "दौलत बाग़" है और किनारे पर मार्बल के मकानों का सिलसिला है। अजमेर से क़रीब ७ मील की दूरी पर एक "पुष्कर" नामक क़स्बा है । जो कि हिन्दुओं का तीर्थस्थान है। इस की सीमा के भीतर कोई मनुष्य जीव हिंसा नहीं कर सकता । अजमेर में रेलवे आफ़िस, मेयो कालिज, ढाई दिन का झोंपड़ा (जो मुसलमानों ने जैन मन्दिर को तुड़वा कर बनवाया था) रेल्वे ढलने का कारख़ाना, ख्वाजा साहब की दरगाह और सेठ साहूकारों की बहुत सी कोठियाँ देखने योग्य हैं। (दि० जैन डिरेक्टरी पृ० ४६१)

मुहल्ला लाखनकोठरी में जैन श्वेताम्बर श्रावकों की आबादी और जैन श्वेताम्बर मन्दिर बहुत लागत के हैं।

अजमेर का विवरण लिखते हुये टॉड साहब ने लिखा है:—

"अजमेर दुर्ग के पश्चिम प्रान्त में एक बहुत ही पुराना जैन मन्दिर है। किसी कारण से यवनों ने इसको नहीं गिराया है। इसका नाम "ढाई दिन का झोंपड़ा" अर्थात् जैनी शिल्पियों ने इन्द्रजाल मंत्र की शक्ति से इसको ढाई दिन के अन्दर बना दिया था। इस कारण इसका नाम ढाई दिन का झोंपड़ा रक्खा गया ऐसी जन-श्रुति है। भारत के तीन प्रधान पवित्र स्थानों में जैनियों ने, जैसे चित्ताकर्षक मन्दिर बनवाये हैं, उनके द्वारा जैन शिल्पियों की योग्यता भली भांति प्रगट हो रही है। ज्ञात होता है कि यथेच्छ सामग्री मिल जाने के कारण यह मन्दिर बहुत ही शीघ्र तैयार

होगया होगा। मन्दिर के चारों ओर परकोटा है, इस परकोटे का प्राचीनत्व और सरल गठन देख कर मेरा विश्वास है कि प्रथम भारत-विजेता ग़ौरी का सुलतान वंश ही इसका निर्माता है। मंदिर के उत्तरीय भाग में सिंहद्वार और सोपानावलि (ज़ीना) विद्यमान है। विशेष परीक्षा के द्वारा मैंने निश्चय कर लिया है कि मन्दिर जैनियों ने बनवाया है। प्रवेशद्वार के परकोटे की दीवार पर अरबी अक्षरों में क़ुरान की आयतें लिखी हैं। तोरण के ऊपर मैंने संस्कृत के अक्षर भी लिखे देखे। वह अरबी अक्षरों के साथ मिश्रित और विकृत हो गये हैं। मन्दिर की बनावट अति श्रेष्ठ और मनोहर है। तोरण देखने के पीछे जैनियों द्वारा बने हुये मूल मन्दिर को देखने के लिये मैं आगे बढ़ा। मन्दिर पुराने जैनमंदिरों के समान बना है। मन्दिर का भीतरी भाग खूब लम्बा चौड़ा है। तीन श्रेणियों में विभक्त रमणीक स्तम्भों के ऊपर छत स्थापित है। सम्पूर्ण स्तम्भ विशेष दर्शनीय और प्रशंसनीय हैं। कमरे के भीतर चालीस स्तम्भ विराजमान हैं, किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सब के बेल बूंटे का काम अलग अलग है। मेरा विश्वास है कि तुर्क लोगों ने भारतवर्ष से इस गठन प्रणाली को सीखकर यूरोप में प्रचार किया था ‡।"
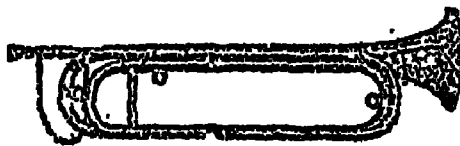
‡ टाड-राजस्थान प्रथम भाग द्वि० खं० अ० ३१ पृ० ८३२।

धनराज सिंघवी

लगादे आग न दिल में तो आरज़ू क्या है ?
न जोश खाये जो ग़ैरत से वह लहू क्या है ?

"—चकवस्त"

संसार एक रंग भूमि है । वैसे तो यहाँ सभी नानारूप में अभिनय करते हैं, पर उनमें बहुत कम ऐसे होते हैं, जो अपने अभिनय की याद दर्शकों के हृदय-पट पर अंकित कर सकते हों । धनराज सिंघवी संसार-रंगभूमि का एक ऐसा चतुर अभिनेता था, जिसने मृत्यु के अभिनय में लोगों को चकित कर दिया था ।

जब मारवाड़ के महाराज विजयसिंह ने सन् १७८७ ईस्वी में अजमेर को पुनः मरहठों से जीत लिया, तब उन्होंने धनराज सिंघवी को अजमेर का गवर्नर नियुक्त किया । किन्तु थोड़े दिन के पश्चात् मरहठों ने अपनी खोई हुई शक्ति को बटोर कर चार वर्ष के बाद फिर मारवाड़ पर आक्रमण कर दिया । राठौड़वीर अब की बार भी खुलकर खेले किन्तु विजय महाराष्ट्रों के भाग्य में थी ।

इसी मौक़े पर मरहठों के सेनापति डिवाइन ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया और उसको चारों ओर से घेर लिया । यह समय धनराज सिंघवी के लिए अत्यन्त विपत्ति का था, फिर भी उस साहसी वीर ने बचे खुचे मुट्ठी भर सैनिकों को लेकर विजयी

और महाशक्तिशाली मरहठों का बड़ी वीरता से सामना किया और उनको आगे बढ़ने से रोक दिया।

पाटन युद्ध के बुरे परिणाम के कारण मारवाड़-नरेश विजयसिंह ने धनराज को हुक्म भेजा कि—"अजमेर मरहठों को सौंप कर जोधपुर चले आओ।" धनराज सिंघवी के लिये यह एक परीक्षा की कसौटी थी; क्योंकि न तो वह अपमान के साथ शत्रु को देश सौंपना चाहता था और न वह अपने स्वामी की आज्ञा का उलंघन ही कर सकता था। इस भयंकर समय में वह द्विविधा में पड़ गया और अन्त में श्री० वादीभसिंह सूरि के "जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम् *" वाक्य के अनुसार मरना श्रेष्ठ समझकर अफीम खाली। मृत्यु शैय्या पर लेटे हुए इस स्वतन्त्रता-प्रिय वीर ने चिल्लाकर कहा था कि—"जाओ और महाराज से कहो कि मैंने प्राण त्याग करके ही स्वामिभक्ति का परिचय दिया है। मेरी मृत्यु पर ही मरहठे अजमेर में प्रवेश कर सकेंगे पहले नहीं।"

इसी समय से अजमेर चिरकाल के लिये मारवाड़ से अलग होगया। फिर समय पाते ही महाराष्ट्रों के हाथ से अंग्रेजी सेना ने इस अजमेर पर अधिकार कर लिया और आज तक इस अजमेर के क़िले पर अंग्रेजों की पताका उड़ रही है!

[२९ जनवरी ३३]

---

* पराधीन जीवन से जीवों का मरण अच्छा है—गुलामी से मौत भली है।

मंत्री मंडन का वीर वंश।

पं० शोभालालजी शास्त्री ने नागरी प्रचारणी पत्रिका भाग ४ अंक १ में लिखा है:—

भारतवर्ष किसी दिन ज्ञान और विद्या का भांडार था। यहां के राजा महाराजा और उनके मंत्री बड़े२ विद्वान् होते थे। उनका ज्ञान केवल युद्धविद्या और राज्यप्रवन्ध में ही मर्यादित नहीं होता था किंतु काव्य, साहित्य, संगीत आदि अन्य विषयों में भी वे असाधारण ज्ञान रखते थे।

राज्य के भीतरी प्रबन्ध और बाहिरी संधि-विग्रहादि कार्यों में व्यस्त रहने पर भी ऐसे ऐसे ग्रंथ लिखना उस समय के नरपतियों तथा मंत्रियों के प्रौढ़ विद्यानुराग को सूचित करता है। आज मैं पाठकों के सम्मुख एक ऐसे ही मंत्रि-रत्न के चरित्र को उपस्थित करता हूँ, जो प्रायः पौने पांच सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष को उज्वल कर चुका है, और जिसकी अलौकिक प्रतिभा के कुछ नमूने उसके स्मृति-चिन्ह स्वरूप आज भी हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

इसका नाम मंडन था और जालौर के सोनगरा (चौहान क्षत्रियों के) वंश में इसका जन्म हुआ था।

मंडन का वीर वंश

१. आभूः—

जाबालपत्तन (जाबालिपुर=जालौर) में स्वर्णगिरीय (सोनगरा) गोत्र में, जो श्रीमाल नाम से भी विख्यात था, आभू नामक एक व्यक्ति हुआ। यह बड़ा ही बुद्धिमान था। सोमेश्वर राजा का यह मुख्य मंत्री था और संपूर्ण कार्यों में इसकी बहुत ही कीर्ति थी। ये सोमेश्वर अजमेर के राजा और भारत के सुप्रसिद्ध अंतिम हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर हों, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उस समय जालौर नागौर आदि प्रदेश इन्हीं के अधीन थे। सोमेश्वर के समय के ५ शिलालेख वि० सं० १२२६, १२२८, १२२९, १२३० और १२३६ के मिले हैं, अतः उन के मंत्री आभू का समय भी इसी के आस पास मानना चाहिए।

२. अभयदः—

आभू का पुत्र अभयद नामक हुआ। यह आनंद नामक राजा का मंत्री था। इसने गुजरात के राजा से विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। यह आनंद कौन था, इसका ठीक तरह पता नहीं चलता। संभव है कि यह आनंद सोमेश्वर का पिता अर्णोराज हो, जिसके दूसरे नाम आनल्लदेव, आनक और आनाक भी थे। पृथ्वीराज विजय में लिखा है, कि अर्णोराज के दो रानियाँ थीं, एक मारवाड़ की सुधवा और दूसरी गुजरात के राजा (सिद्धराज) जयसिंह की पुत्री काँचनदेवी। इस काँचनदेवी का पुत्र सोमेश्वर हुआ।

पृथ्वीराजरासो में सोमेश्वर के पिता का नाम आनन्दमेव लिखा है, इससे अनुमान होता है कि आनंद या आनंदमेव अर्णोराज ही के नामांतर हैं। पृथ्वीराज रासो में यह भी लिखा है कि आनंद-मेव (अर्णोराज) ने सोमेश्वर को राज्य दिया, सोमेश्वर ने गुजरात और मालवे पर आक्रमण कर उन्हें अपने आधीन किया।

मालूम होता है कि अभयद ने अपनी युवावस्था में ही जब कि उसका पिता विद्यमान था, आनंद के मंत्री का पद प्राप्त कर लिया था, और आनंद के बाद सोमेश्वर के सिंहासनारूढ़ होने पर भी यह उस पद पर बना रहा, तथा सोमेश्वर ने गुजरात पर जो आक्रमण किया, उसमें या तो यह भी साथ था, या सोमेश्वर ने स्वयं न जाकर इसे ही गुजरात जीतने को भेजा हो। इसके बाद सोमेश्वर ने इसके पिता अभयद को जो उस समय भी वर्तमान था मंत्री बनाया हो।

३. आंवड़:—

अभयद का पुत्र आँवड़ हुआ। इसने स्वर्णगिरि (जालौर के क़िले) पर विग्रहेश को स्थापित किया। यहाँ पर विग्रहेश से शायद सोमेश्वर का बड़ा भाई विग्रहराज चौथा, जिसका उपनाम वीसलदेव था, निर्दिष्ट किया गया हो, अर्थात् आँवड़ ने जालौर का क़िला, विग्रहराज के आधीन कराया हो। "ईश" शब्द राजाओं के नाम के अन्त में भी आता है, जैसे अमरसिंह के लिए अमरेश, और शिव के नामों के अंत में भी आता है, जैसे समाधीश, अ-चलेश आदि। यहाँ यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है, कि विग्रहेश से

यहाँ विग्रहराज ही से अभिप्राय है, जैसा कि ऊपर बतलाया है अथवा विग्रहराज के नाम से किसी शिवालय के बनवाने का उल्लेख है।

४. सहणपालः—

आँवड़ का पुत्र सहणपाल हुआ। यह मोजदीन नृपति के सब प्रधानों में मुख्य था। मोइज़ुद्दीन नाम के दो बादशाह हिंदुस्तान में हुए हैं। एक रज़िया बेगम का भाई मोइज़ुद्दीन बहराम, जिसने ई० सन् १२३९-४० से (वि० सं० १२९६-९७) से ई० स० १२४१-४२ (वि० सं० १२९८-९९) तक तीन वर्ष छः महीने राज्य किया था। दूसरा ग़यासुद्दीन बलबन का पोता मोइज़ुद्दीन कैकोबाद था जिसने ई० स० १२८६ (वि० सं० १३४२) से ई० स० १२९० (वि० सं० १३४६) तक राज्य किया था। यद्यपि यह ठीक तरह निश्चय नहीं होता, कि सहणपाल किस मोइज़ुद्दीन का प्रधान था, परन्तु समय का हिसाब लगाने से यह मोइज़ुद्दीन बहराम का मंत्री हो, ऐसा प्रतीत होता है। सहणपाल अभयद का पौत्र था। अभयद सोमेश्वर (वि० सं० १२२६-१२३४, ई० स० ११६९ से ११७७) का समकालीन था, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। यदि सहणपाल को बहराम मोइज़ुद्दीन का मंत्री न मानकर कैकोबाद का माना जाय, तो पितामह और पौत्र के समय में क़रीब ११७ वर्ष का अंतर पड़ता है जो बहुत है। बहराम का मंत्री मानने में केवल ७० वर्ष का अंतर आता है जो उचित और संभव है। सहणपाल के पुत्र नैणा को जलालुद्दीन फीरोज़ का समकालीन लिखा है।

फीरोज ई० स० १२९० (वि० सं० १३४७) में सिंहासनारूढ़ हुआ था। यह ५० वर्ष का अंतर भी पितापुत्र में असंभव नहीं है।

राजा (मोइज़ुद्दीन) की सेना ने, जब "कच्छपतुच्छ" नामक देशको घेर लिया, तो लोगों को दुःख से चिल्लाते हुये सुनकर सहणपाल को दया आगई। उसने अपने प्रयत्न से उस देश को छुड़ा दिया। इसने यवनाधिप (मुसलमान बादशाह) को एक सौ एक तार्क्ष्य दिये और बादशाह ने भी खुश होकर उसे सात मुरत्तब बख्शे।

५. नैणा:—

सहणपाल का पुत्र नैणा हुआ। जिसे सुरत्राण (सुलतान) जलालुद्दीन ने सब मुद्राएँ अर्पण कर दी थीं। अर्थात् राज्य का सम्पूर्ण कारबार इसे सौंप रक्खा था। यह सुलतान जलालुद्दीन फीरोज खिलजी था, जो मोइजुद्दीन कैकोबाद के अनंतर सन् १२९० ईस्वी में तख़्तनशीन हुआ था, और छः वर्ष राज्य करने के उपरान्त सन् १२९६ ईस्वी में मकान के नीचे दबकर मर गया था। इस ने जिनचंद्रसूरि आदि गुरुओं के साथ, सिद्धाचल और रैवतक पर्वत की यात्रा की थी। इस वंश में सब से प्रथम जैनमत इसी ने स्वीकार किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

६. दुसाजु:—

नैणा का पुत्र दुसाजु हुआ। यह चंड राउल के सुविस्तृत राज्य का मुख्य प्रधान था। तुग़लकशाह ने इसे आदर पूर्वक बुलाकर "मेरुतमान" देश दिया था। यह तुग़लशाह गयासुद्दीन तुग़-

लक था, जिसका उपनाम गाजीबेग भी था। इसने ईस्वीसन् १३२१ में खिलजी वंशीय मलिकखुसू से, जिसका उपनाम नसीरुद्दीन भी था, राज्य छीना और ४ वर्ष तक राज्य किया था।

७. चीका:—

दुसाजु का पुत्र चीका हुआ, जो वीतराग का परमभक्त था। चीका के वर्णन में काव्यमनोहर में दो श्लोक ऐसे लिखे हैं, जिन में अशुद्धि हो जाने के कारण उनका अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि उनका अभिप्राय कुछ ऐसा मालूम होता कि "चीका ने शक्तिशाह को जो पादलचाद्रि (सपादलक्ष पर्वत, साँभर के आस-पास का प्रदेश) को उपभोग कर रहा था। सात राजाओं के साथ कैद कर लिया और उसका अधिकार छीन लिया। पातशाह (गयासुद्दीन तुगलक) ने उसके इस कार्य को उचित समझ, उसे दान मान आदि से खुश किया। चीका ने भी बादशाह से बड़ा भारी मान पाने से प्रसन्न हो, उस प्रदेश पर गाजीक (गयासुद्दीन) का अधिकार स्थापित कर दिया। यह शक्तिशाह किसी मुसलमान बादशाह का नाम प्रतीत होता है। जिसे संस्कृत में रूपांतर दे दिया गया है। एल्फिंस्टन ने लिखा है कि "गुजरात के बादशाह अहमदशाह ने ईडर, जालोर और खानदेश पर आक्रमण किए थे और एक अवसर पर वह मारवाड़ के उत्तर में अवस्थित नागौर तक बढ़ आया था, जहाँ उसका चचा देहली के सैयद खिजरखाँ के विरुद्ध उपद्रव कर रहा था"। संभव है कि "शक्तिशाह" अह-मदशाह या उसके किसी सेनापति का नामांतर हो, जिसने सपा-

दलन प्रदेश पर क़ब्जा कर लिया हो, और वीका ने उससे इस प्रदेश का पीछा छुड़ाया हो।

वीका ने दुर्भिक्ष के समय चित्रकूट (चित्तौड़) के अकाल-पीड़ित लोगों को कई बार, जीवदया को अपने कुल का परम कर्तव्य समझकर अन्न बाँटा था।

८. झंझण:—

वीका का पुत्र झझण हुआ। यह नांद्रीय देश (नांदोल, जो गुजरात में है) के राजा गोपीनाथ का मंत्री था। यह देवता और गुरुओं (जैनसाधुओं) का परम भक्त था। इसने प्रह्लादन नामक नगर (प्रह्लादनपुर = पालनपुर) में शांतिनाथ का विंब (मूर्ति) स्थापित किया, संघपति बनकर यात्राएँ कीं और संघ के सब मनुष्यों को पहिनने को वस्त्र, चढ़ने को घोड़े और मार्गव्यय के लिये द्रव्य अपनी ओर से दिया। कीर्ति प्राप्त करने के लिये इसने कई उद्यापन किये; जैनसाधुओं के रहने के लिये कई पुण्यशालाएँ बनवाई। और बहुत से देवमंदिर बनवाए।

नांद्रीय (नांदोड) से यह मालवे की राजधानी मंडपदुर्ग (मांडू) को चला आया था। मांडू उस समय मालवे की राजधानी होने से, बड़ा ही संपत्तिशाली नगर था। अनेक कोटिपति और लक्षाधीश इस नगर को अलंकृत करते थे। कहते हैं कि इस शहर में कोई भी ग़रीब जैन श्रावक नहीं था, कोई जैन ग़रीबी की दशा में बाहर से आता, तो वहाँ के धनी जैन उसे एक एक रुपया देते थे। इन धनियों की संख्या इतनी अधिक थी कि वह दरिद्र उस

एक एक रुपए से ही सम्पत्तिशाली बन जाता था।

मांडू में उस समय आलमशाह राज्य करता था। इसने पूर्व और दक्षिण के राजाओं तथा गुजरात के नरेशों को हराया था। झंझण की बुद्धिमत्ता और राज्यप्रबंध-कुशलता देख आलमशाह ने इसको अपना मंत्री बनाया। फरिश्ता ने मालवा के बादशाहों की जो नामावली दी है, उसमें आलमशाह नामक किसी बादशाह का नाम नहीं है। संभव है कि आलमशाह से अभिप्राय दिलावरखाँ के लड़के हुशंगगोरी से हो, जिसने मालवे का स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, मांडू का क़िला बनवाया और धार से उठाकर मांडू को राजधानी बनाया। मालवे के सिंहासन पर अधिकार करने के पूर्व इसका नाम अल्पखाँ था। संभव है कि अल्पखाँ को आलमखाँ समझ कर उसका संस्कृत रूप पंडितों ने आलमशाह कर दिया हो।

आलमशाह के समय का वि०सं० १४८१ का एक जैन-शिला-लेख ललितपुर प्रांत के देवगढ़ के पास मिला है। उसमें किसी मंदिर के बनवाने का समय लिखने के प्रकरण में लिखा है कि, "राजा विक्रमादित्य के गताब्द १४८१ और शालिवाहन के शाक १३४६ वैशाखशुक्ल १५ गुरुवार स्वाति नक्षत्र और सिंह लग्न के उदय के समय अपने भुजबल के प्रतापरूपी अग्नि की ज्वाला से गजाधीश (दिल्ली के बादशाह) को व्याकुल कर देनेवाला गोरी-वंशी मालवे का राजा श्री शाह आलम्भक विजय के वास्ते जब मंडलपुर (माडू) से निकला, उस समय" और अंत में भी साहि आलम्भः का नाम लिखा है और बाद में लिखा है कि "उस समय

साहि आलम का पुत्र गर्जन स्थान (गज़नी) में गर्ज रहा था"। मालवे का बादशाह होना और मांडू से विजय के लिये निकलना इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं, कि यह शाहि आलम्भक और हमारे मंडन मंत्री का आश्रयदाता आलम्मशाह एक ही थे। उपरोक्त शिलालेख के संपादक श्रीयुत राजेंद्रलाल मित्र महोदय का भी मत यही है कि, यह शाहि आलम्म हुशंगगोरी ही का नाम है। इसका उपनाम अल्पखाँ था और इसी का विद्वानों ने संस्कृत रूप शाहि आलम बना दिया है। मित्र महोदय ने इस का नाम आलम्भक पढ़ा है और इसे मालवा के अतिरिक्त पोलकेश देश का भी राजा माना है, परंतु यह ठीक नहीं है। मंडन के ग्रन्थों तथा महेश्वर के काव्यमनोहर में इसका नाम स्पष्ट आलमसाहि और आलम्मशाहि लिखा है। शिलालेख के बहुत से अक्षर टूटे हुए होने से "म" को "भ" पढ़ लेने के कारण यह भूल हुई है। आलमशाह (हुशंग-गोरी) को पालकेश देश का राजा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि "पालकेश" इस नाम के देश का कहीं भी वर्णन नहीं आता। यह भूल ठीक पदच्छेद न कर सकने के कारण हुई है। उन्होंने "मालव-पालकेशक-नृपे" ऐसा पदच्छेद समझ उपरोक्त अर्थ किया है, परंतु वस्तुतः पदच्छेद 'मालव-पालकेशक नृपे' है, जिसका अर्थ "मालवा की रक्षा करनेवाले मुसलमान बादशाह के" ऐसा होता है।

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है, कि यह आलम्मसाहि हुशंगगोरी उपनाम अल्पखाँ ही है। हुशंगगोरी अपने पिता दिलावरखाँ की मृत्यु के बाद ई० सन् १४०५ (वि० सं० १४६२) में मालवे के

सिंहासन पर बैठा और ई० स० १४३२ (वि०सं० १४८९) में इसका देहांत हुआ। यह ठीक मालूम नहीं होता कि झंझण किस समय से किस समय तक हुशंगगोरी का मंत्री रहा, परंतु यह अवश्य कहना होगा, कि वह अधिक समय तक नहीं रहा, क्योंकि इसी अल्पखाँ के राजत्वकाल में झंझण का पुत्र बाहड और उसका पुत्र मंडन मंत्री बन चुके थे।

९. चाहड़:—

झंझड़ के छः पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़ा चाहड़ था। चाहड़ने संघ के साथ जीरापल्ली (आधुनिक जीरावला जो आबू के समीप है) की यात्रा की और अर्बुद (आबू) पर्वत की भी यात्रा की। संघमें जितने मनुष्य थे, सबों को द्रव्य, वस्त्र और घोड़े दिये और संघ-पति की पदवी प्राप्त की। तीर्थस्थानों में बहुतसा धन व्यय किया। इसके दो पुत्र थे, जिन में बड़े का नाम चंद्र और छोटे का नाम खेमराज था।

१०. बाहड़:—

झंझण के दूसरे पुत्र का नाम बाहड़ था। इसने भी संघपति बनकर रैवतक पर्वत (गिरनार) की यात्रा की, संघी लोगों को द्रव्य, वस्त्र और घोड़े दिए। इसके भी दो पुत्र थे। बड़े का नाम समुद्र (समधर) और छोटे का नाम मंडन था। यही मंडन हमारे चरित्रनायक मंत्री मंडन हैं।

११. देहड़:—

झंझण का तीसरा पुत्र देहड़ था। इसने भी संघपति बनकर

अर्बुद (आबू) पर नेमिनाथ की यात्रा संघ के साथ की। संघ को किसी प्रकार का कष्ट न हो इसका यह बहुत ही विचार रखता था। इसने राजा केशिदास, राजा हरिराज और राजा अमरदास को जो जंजीरों में पड़े थे, परोपकर की दृष्टि से छुड़ाया। इनके सिवाय वराट लूणार और बाहड़ नाम के ब्राह्मणों को भी बंधन से छुड़ाया था। इसके धन्यराज नामक एक पुत्र था। इसका दूसरा नाम धनपति और धनद भी था। इसने भर्तृहरिशतक त्रय के समान, नीतिधनद, श्रृंगारधनद और वैराग्यधनद नामक तीन शतक बनाये थे। ग्रंथ की प्रशस्ति नीतिधनद के अन्त में दी है। इससे विदित होता है कि इसने नीतिधनद सबसे पीछे बनाया था। ये शतक काव्यमाला के १३ वें गुच्छक में प्रकाशित हो चुके हैं। नीतिधनद के अंत की प्रशस्ति से विदित होता है, कि इसकी माता का नाम गंगादेवी था और इसने ये ग्रंथ मंडपदुर्ग (मांडू) में संवत् १४९० वि० में समाप्त किए थे।

१२. पद्मसिंहः—

झंझण के चौथे पुत्र का नाम पद्मसिंह था। इसने पार्श्वनाथ की यात्रा की और व्यापार से बादशाह को प्रसन्न किया था। इस का भी पद "संघपति" लिखा है। अतः इसने भी यह यात्रा संघ के साथ ही की होगी।

१३. आहलूः—

पाँचवें पुत्र का नाम "संघपति आहलू" था। इसने मंगलपुर की यात्रा की और जीरापल्ली (जीरावला) में बड़े बड़े विशाल स्तंभ

और ऊँचे दरवाजे वाला मंडप वनवाया और उसके लिए वितान (चंदवा) भी वनवाया।

१४. पाहू:—

झंझण का सव से छोटा पुत्र पाहू था, इसने अपने गुरु जिन-भद्रसूरि के साथ अर्बुद (आवू) और जीरापल्ली (जीरावला) की यात्रा की थी।

ये झंझण के छहों पुत्र आलमशाह (हुशंगगोरी) के सचिव थे। ये वड़े समृद्धिशाली और यशस्वी थे। मंडन ने अपने काव्य-मंडन में लिखा है कि "कोलाभच्च राजा ने जिन लोगोंको क़ैद कर लियाथा, उन्हें इन धर्मात्मा झंझण पुत्रों ने छुड़ाया। वह कोलाभच्च कौन था विदित नहीं होता, शायद कोलाभच्च से मतलव मुसलमान से हो। संस्कृत में "कोल" सूकर को कहते हैं और 'अभच्च" का अर्थ "न खानेवाला" ऐसा होता है। अतः कोलाभच्च का अर्थ सूअर न खानेवाला अर्थात् मुसलमान यह हो सकता है। यदि यह अनुमान ठीक है तो "कोलाभच्चनृप" का अर्थ आलमशाह (हुशंग) ही है। ये लोग हुसंगगोरी के मंत्री थे अतः उसके क़ैदियों को उस से अर्ज कर छुड़ाया हो यह संभव भी है।

१५. मंडन:—

ऊपर वतलाया जा चुका है कि मंडन, झंझण के दूसरे पुत्र वाहड़ का छोटा लड़का था। यह व्याकरण अलंकार संगीत तथा अन्य शास्त्रों का वड़ा विद्वान् था। विद्वानों पर इसकी वहुत प्रीति थी। इसके यहाँ पंडितों की सभा होती थी, जिसमें उत्तम कवि प्राकृत

भाषा के विद्वान्, न्यायवैशेषिक, वेदांत, सांख्य भाट्ट प्राभाकर तथा बौद्धमत के अद्वितीय विद्वान् उपस्थित होते थे। गणित भूगोल ज्योतिष, वैद्यक, साहित्य और संगीतशास्त्र के बड़े बड़े पंडित इसकी सभा को सुशोभित करते थे। यह विद्वानों को बहुतसा धन, वस्त्र और आभूषण बाँटा करता था। उत्तम उत्तम गायक, गायिकाएँ, और नर्तकिएँ, इसके यहाँ आया करती थीं और इसकी संगीत-शास्त्र में अनुपम योग्यता देख कर अवाक् रह जाती थीं। उन्हें भी यह द्रव्य आदि से संतुष्ट करता था। यह जैसा विद्वान् था वैसा ही धनी भी था। एक जगह इसने स्वयं लिखा है कि "एक दूसरे की सौत होने के कारण महालक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर वैर है, इसलिए इस (मंडन) के घर में इन दोनों की बड़ी जोरों से बदाबदी होती है; अर्थात् लक्ष्मी चाहती है कि मैं सरस्वती से अधिक बढूं और सरस्वती लक्ष्मी से अधिक बढ़ने का प्रयत्न करती है।

मालवे के बादशाह का इस पर बहुत ही प्रेम था। ऐसे ऐसे विद्वानों की संगति से बादशाह को भी संस्कृत साहित्य का अनुराग हो गया था। एक दिन सायंकाल के समय बादशाह बैठा था। विद्वानों की गोष्ठी हो रही थी। उस समय बादशाह ने मंडन से कहा कि "मैंने कादंबरी की बहुत प्रसंशा सुनी है और उसकी कथा सुनने को बहुत जी चाहता है। परन्तु राजकार्य में लगे रहने से इतना समय नहीं कि ऐसी बड़ी पुस्तक सुन सकूँ। तुम बहुत बड़े विद्वान् हो, अतः यदि इसे संक्षेप में बनाकर कहो, तो बहुत ही अच्छा हो"। मंडन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि "बाण ने

स्वयं ही कादंबरी की कथा संक्षेप से कही है, परंतु यदि आपकी आज्ञा है, तो मैं इसकी कथा आपसे संक्षेप में निवेदन करूँगा" यह कह कर इसने "मंडन-कादंबरी-दर्पण" नामक अनुष्टुप् श्लोकों में कादंबरी का संक्षेप बनाया।

एक बार पौर्णिमासी के दिन सायंकाल के समय मंडन पहाड़ों के आँगन में बैठा हुआ था। सरस साहित्य की गोष्ठी हो रही थी। इतने में चंद्रोदय हुआ। चंद्रमा कवियों की परम प्रिय वस्तुओं में से एक है। कदाचित् ही ऐसा कोई काव्य होगा, जिसमें चन्द्रमा उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया हो। चंद्रमा की अमृतमयी रश्मियों ने मंडन के हृदय को विद्रुत कर दिया। उसने कई श्लोक चंद्रमा के वर्णन के बनाये। ऐसा मालूम होता है कि चंद्रमा की रमणीयता देखने में उसे सोने का भी स्मरण न रहा हो। चंद्रमा के उदय से अस्त तक की भिन्न भिन्न दशाओं का उसने अनेक ललित पद्यों में वर्णन किया। धीरे धीरे चंद्रमा के अस्त होने का समय आया। मंडन का चित्त अत्यंत खिन्न हुआ। जिसके लिए वह सारी रात बैठा रहा था, उसे इस प्रकार अस्त होते देख वह कहने लगा। "हाय जिस मार्ग पर चलने से पहले सूर्य का अधःपात हो चुका था, दुर्दैव-वश चंद्रमा भी उसी मार्ग पर चला और उसका भी अंत में अधःपात हुआ। जब पतन होने को होता है तो जानते हुये का भी ज्ञान नष्ट हो जाता है। चंद्रमा को पहले पूर्व दिशा प्राप्त हुई थी, पर उसे छोड़ वह पश्चिम दिशा के पास गया। पहले तो उसने राग (अनुराग और रक्तता) प्रकाशित कर उसे अपनाया पर वेश्या की

तरह थोड़े ही समय में सर्वस्व हरण कर उसको दुतकार कर निकाल दिया ?"

मंडन ने देखा कि सूर्य की किरणों से ताड़ित होकर चंद्रमा भाग रहा है। उन्हों ने उसे कांतिहीन कर पश्चिम समुद्र में गिरा दिया है। उसे सूर्य के ऊपर बहुत ही क्रोध आया। अपने प्रीतिपात्र चंद्रमा की विजय के लिये उसने "चंद्रविजय" नामक एक प्रबंध ललित कविता में बनाया, जिसमें चंद्रमा का सूर्य के साथ युद्धकर उसे हराना और पीछे उदयाचल पर उदय होने का वर्णन है।

मंडन जैन संप्रदाय के खरतरगच्छ का अनुयायी था। उस समय खरतरगच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य जिनभद्र-सूरि थे। मंडन का सारा ही कुटुम्ब इन पर बहुत ही भक्ति रखता था और इनका भी मंडन के कुटुम्ब पर बड़ा ही स्नेह था। "पाहू" के जिनभद्रसूरि के साथ यात्रा करने का वर्णन ऊपर आ चुका है। ये बड़े भारी विद्वान् थे। इनके उपदेश से श्रावकों ने उज्जयंत (गिरनार) चित्रकूट (चित्तौड़) मांडव्यपुर (मंडोवर) आदि स्थानों में विहार बनाए थे। अणहिल्लपत्तन आदि स्थानों में उन्होंने बड़े२ पुस्तकालय स्थापित किए थे और मंडप दुर्ग (मांडू) प्रला-दनपुर (पालनपुर) तलपाटक आदि नगरों में इन्होंने जिन-मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी।

जिनमाणिक्यसूरी (वि० सं० १५८३-१६१२) के समय की लिखी हुई पट्टावली और बीकानेर के यति क्षमाकल्याणजी की बनाई हुई पट्टावली से विदित होता है कि 'जिनराजसूरि' के पट्ट

पर पहले जिनवर्द्धनसूरि को स्थापित किया था, परंतु उनके विषय में यह शंका होनेपर कि उन्होंने ब्रह्मचर्य भंग किया है, उनके स्थान पर जिनभद्रसूरि को स्थापित किया गया था। महेश्वर ने अपने काव्यमनोहर में जिनभद्रसूरि की वंशपरंपरा इस प्रकार दी है—
१ जिनवल्लभ, २ जिनदत्त, ३ सुपर्वसूरि, ४ जिनचंद्रसूरि, ५ जिनसूरि, ६ जिनपद्मसूरि, ७ जिनलब्धिसूरि, ८ जिनराजसूरि, ९ जिनभद्रसूरि।

पाटण के भांडार में भगवतीसूत्र की एक प्रति है। उसके अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि जिनभद्रसूरि के उपदेश से मंडन ने एक वृहत् सिद्धांत ग्रंथों का पुस्तकालय "सिद्धांत कोश" नामक तय्यार करवाया था। यह भगवतीसूत्र भी उसी में की एक पुस्तक है।

मंडन ने अपने ग्रन्थों के अंत की प्रशस्ति में अथवा महेश्वर ने अपने काव्यमनोहर में मंडन के पुत्रों के विषय में कुछ नहीं लिखा, परन्तु उपरोक्त भगवतीसूत्र के अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि मंडन के पूजा, जीजा, संग्राम और श्रीमाल नामक ४ पुत्र थे। मंडन के अतिरिक्त सं० धनराज, सं० खीमराज और सं० उदयराज का भी नाम इसमें लिखा है। खीमराज चाहड़ का दूसरा पुत्र खेमराज है और धनराज देहड़ का पुत्र धन्यराज। उदयराज कौन था यह ज्ञात नहीं होता। महेश्वर ने झंझण के छः पुत्रों में से तीनों के पुत्रों का वर्णन किया है, परन्तु पद्म, आल्ह और पाहू की संतति के विषय में कुछ नहीं लिखा। संभव है कि उदयराज

इन्हीं में से किसी एक का पुत्र हो।

मंडन यद्यपि जैन था और वीतराग का परम उपासक था, परन्तु उसे वैदिकधर्म से कोई द्वेष नहीं था। उसने अलंकारमंडन में अनेक ऐसे पद्य उदाहरण में दिए हैं, जिनका संबंध वैदिकधर्म से है। जैसे—

श्रीकृष्णस्य पदद्वंद्वमधमाय न रोचते

अल० म० परि० ५ श्लोक ३२९

अर्थात् जो नीच होते हैं उन्हें श्रीकृष्ण के चरण युगल अच्छे नहीं लगते।

किं दुःखहारि हरपादपयोजसेवा

यद्दर्शनेन न पुनर्मनुजत्वमेति

तत्रैव ९७

अर्थात् दुख को हरण करने वाला कौन है? महादेव के चरण कमलों की सेवा; जिनके दर्शन से फिर मनुष्यत्व प्राप्त नहीं होता (मोक्ष हो जाता है)।

मंडन के जन्म तथा मृत्यु का ठीक समय यद्यपि मालूम नहीं होता तथापि मंडन ने अपना मंडपदुर्ग (मांडू) में वहाँ के नरपति आलमशाह का मन्त्री होना प्रकाशित किया है। यदि उपरोक्त अनुमान के अनुसार आलमशाह हुशंगगोरी ही का नाम है, तो कहना होगा कि मंडन ईसा की १५वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था, क्योंकि हुशंग का राज्यकाल ई० स० १४०५ से ई० स० १४३२

है। वि० सं० १५०४ (ई० स० १४४७) की लिखी मंडन के ग्रन्थों की प्रतियाँ पाटण के भंडार में वर्तमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् १४४७ के पूर्व वह ये सब ग्रन्थ बना चुका था। मुनि जिनविजयजी के मतानुसार ये प्रतियाँ मंडन ही की लिखवाई हुई हैं। वि० सं० १५०३ में मंडन ने भगवतीसूत्र लिखवाया था, यह ऊपर वर्णन हो चुका है। इससे स्पष्ट है कि मंडन वि० सं० १५०४ (ई० सं० १४४७) तक वर्तमान था।

महेश्वर ने काव्यमनोहर के सर्ग ७ श्लो० २० में लिखा है कि "संघपति भ्रमण के ये पुत्र विजयी हैं" इस वर्तमान प्रयोग से विदित होता है कि काव्यमनोहर के बनने के समय भ्रमण के छहों पुत्र वर्तमान थे।

मंडन के ग्रन्थ

पाटण (गुजरात) की हेमचंद्राचार्य सभा ने महेश्वरकृत काव्य-मनोहर और मंडनकृत (१) कादंबरीदर्पण (२) चंपू मंडन (३) चंद्रविजय और (४) अलंकार मंडन ये पाँचों ग्रन्थ एक जिल्द में और (५) काव्य मंडन तथा (६) शृंगार मंडन दूसरी जिल्द में प्रकाशित किये हैं। प्रथम जिल्द की भूमिका से विदित होता है कि इन उपरोक्त ग्रन्थों के सिवाय (७) संगीत मंडन और (८) उपसर्गमंडन नाम के दो ग्रन्थों की प्रतियाँ भी उक्त सभा के पास हैं। उक्त सभा ने ये प्रतियाँ पाटण के वाड़ी पार्श्वनाथजी के मंदिर से प्राप्त की हैं।

मंडन ने चंपूमंडन को सारस्वतमंडन का अनुज और काव्य-मंडन के भ्रातृत्व (भाईपन) से सुशोभित कहा है और शृंगारमंडन के अंत में अपने को "सारस्वत-मंडन-कवि" कहा है। इससे सिद्ध है कि सारस्वतमंडन नामक एक और ग्रंथ मंडन ने बनाया है।

आखफ्रेट साहब ने अपने "केटलोगस केटलोगरम" नामक पुस्तक में मंडन मन्त्री और मंडन कवि इन दो भिन्न२ व्यक्तियों का वर्णन लिखा है। मंडन मंत्री के लिए लिखा है कि "ईस्वी सन् १४५६ में "कामसमूह" नामक ग्रंथ के बनाने वाले अनंत का पिता था।" और मंडन कवि के लिए लिखा है कि "यह उपसर्ग मंडन, सारस्वत मंडन और कविकल्पद्रुम स्कंध नामक ग्रंथों का कर्ता था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सारस्वतमंडन आदि ग्रन्थ हमारे चरित्रनायक बाहड़ के पुत्र मन्त्री मंडन ही के बनाए हुए हैं। अतः सिद्ध है कि आखफ्रेट साहिब जिसे मंडन कवि कहते हैं वह बाहड़ का पुत्र मन्त्री मंडन ही है। कामसमूह के कर्ता अनंत का पिता मंत्रिमंडन इस मन्त्रिमंडन से बिलकुल ही भिन्न है। दोनों के नामों की समानता दोनों का मन्त्री होना और समय भी प्रायः समान ही होना यद्यपि इस बात का भ्रम उत्पन्न करता है कि अनंत मांडू के मंत्रिमंडन ही का पुत्र हो, परन्तु अनंतकृत कामसमूह और भगवती सूत्र के अंत की प्रशस्ति देखने पर यह भ्रम नहीं रहता।

पाठकों को विदित है कि मांडू का मंत्रि मंडन सोनगरा गोत्र का क्षत्रिय था परंतु अनंत क्षत्रिय नहीं था, किंतु अहमदाबाद का

रहने-वाला वड्नगरा नागर ब्राह्मण था यथा—

नागरज्ञातिजातेन मंत्रिमंडनसूनुना

अनंतेन महाकाव्ये सतीवृत्तं प्रकाशितम् ।

कामसमूह सतीवृत्त प्रकरण श्लो० २९

अहमदनिर्मितनगरे विहितावसतिश्च वृद्धनागरिकः

मंडनसूनुरनंतो रचयति सेवाविधिनार्याः

कामसमूह-स्त्री-सेवा-विधी प्रकरण श्लो० १९

भगवतीसूत्र के अंत में जो मंडन के पुत्रों के नाम दिए हैं उनमें अनंत नाम नहीं है।

"केटलोगस केटलोगरम" से मालूम होता है कि ऊपर लिखित ग्रंथों के सिवाय मंडन ने कविकल्पद्रुम स्कंध नामक एक और भी ग्रन्थ बनाया था । इस प्रकार मंडन के बनाये हुए कुल १० ग्रंथ अब तक विदित हुए हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं।

(१) कादंबरीदर्पण

(२) चंपूमंडन

(३) चंद्रविजयप्रबंध

(४) अलंकारमंडन

(५) काव्यमंडन

(६) शृंगारमंडन

(७) संगीतमंडन

(८) उपसर्गमंडन

(९) सारस्वतमंडन

(१०) कविकल्पद्रुम

इनमें से आदि के छः ग्रंथ हेमचंद्राचार्य सभा पाटण की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं।

आबू

अब लुप्त सी जो हो गईं रक्षित न रहने से यहाँ,
सोचो, तनिक, कौशिल्य की कितनी कलाएँ, थी यहाँ ?
प्रस्तर विनिर्मित पुर यहाँ थे और दुर्ग बड़े बड़े,
अब भी हमारे शिल्प-गुण के चिन्ह कुछ कुछ हैं खड़े ॥
अब तक पुराने खण्डहरों में, मन्दिरों में भी कहीं,
बहु मूर्तियाँ अपनी कला का पूर्ण परिचय दे रहीं ॥
प्रकटा रही हैं भग्न भी सौन्दर्य्य की परिपुष्टता,
दिखला रही हैं साथ ही दुष्कर्मियों की दुष्टता ॥

—मैथिली शरण गुप्त

आबू का देलवाड़ा-मन्दिर—"हिन्दुस्तान भर में यह मन्दिर सर्वोत्तम है। सिवाय ताजमहल के कोई भी स्थान इसकी बराबरी नहीं कर सकता" —कर्नल जेम्स टॉड

आबू-परिचय

वर्तमान आबू पर अंग्रेजी अमलदारी है, किन्तु इससे पूर्व यहाँ गुजरात के राजा शासन करते थे। गुजरात के कितने ही प्रतापी राजा और मंत्री, सेनापति आदि जैनधर्मी हुये हैं। जिनका विस्तृत परिचय "गुजरात के जैन-वीर" में दिया जायगा।

किन्तु इनके बनवाये हुये कई रमणीक दर्शनीय मन्दिर आबू पर अपनी भव्य छटा दिखला रहे हैं; और आबू राजपूताने में सम्मिलित है, इस लिये यहाँ केवल आबू का परिचय कराया जाता है।

जोधपुर-राज्य के पुरातत्वविभाग के आफीसर साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ ने, मार्च सन् १४ में जोधपुर के जैन साहित्य सम्मेलन के लिये "आबू पर्वत के प्रसिद्ध जैनमन्दिर" नामक विद्वत्तापूर्ण एक निबन्ध लिखा था, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है:—

आबू पर्वत परके प्रसिद्ध जैनमन्दिर.

"आबू पर्वत सिरोही राज्यके अग्निकोण में है। यद्यपि यह पर्वत आडावला (अर्वली) पर्वत के सिलसिले से हट करके स्थित है, तथापि इसकी कई शाखाएं आडावला पर्वत से मिली हुई हैं। आबू पर्वत के उपरि भाग की लम्बाई १२ माइल और चौड़ाई २ से ३ माइल तक है। इस पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर का नाम गुरु शिखर है। यह शिखर समुद्रतल से ५६५० फीट ऊँचा है। आबू पर्वत की समतल भूमि (अधित्यका) की ऊँचाई ४००० फीट है।

इस पर्वत की उत्पत्ति के विषय में इस तरह लिखा है:—

पहले इस स्थानपर उतङ्क मुनि का खोदा हुआ एक बड़ा खड्डा था। इसी के आसपास वशिष्ठऋषि का आश्रम था। एक समय वशिष्ठ की गाय इस खड्डे में गिर गई। इससे वशिष्ठ को बहुत खेद हुआ। तथा वशिष्ठ ने उस खड्डे को भर देने के लिये अर्बुद नाम के सर्प द्वारा हिमालय पर्वत का नन्दिवर्धन नामक शिखर मंगवाकर उस जगह स्थापन कर दिया। वि० सं० ११८७ का एक लेख पाटनारायण के मन्दिर में लगा है। उसमें भी इस विषय का एक श्लोक है। यथा:—

"उत्तङ्कसुषिरे भीमे वशिष्ठो नन्दिवर्द्धनम् ।
हिमाद्रेः स्थापयामास भुजङ्गार्बुदसंज्ञया ॥"

जिनप्रभसूरि विरचित 'अर्बुदकल्प' में भी इस विषयका उल्लेख है:—

"नन्दिवर्द्धन इत्यासीत्प्राक्शैलोऽयं हिमाद्रिजः ।
कलिनार्बुदनागाधिष्ठानात्त्वर्बुद इत्यभूत ॥२५॥

अर्थात्—अर्बुद नाम के सर्प द्वारा लाया जाने के कारण यही शिखर अन्त में आबू (अर्बुद) नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्राचीन लेखों में लिखा है कि, इसी पर्वत पर वशिष्ठ ने अग्निकुण्ड से परमार, पडिहार, सोलङ्की और चाहमान (चौहान) नामके चार वीरों को उत्पन्न किया था। इन चारों ने अपने नाम से चारवंश प्रचलित किये।

यद्यपि इस प्रकार की उत्पत्ति पर ऐतिहासिकदृष्टि से विश्वास नहीं किया जा सकता और इस लेख के विरुद्ध भी कई लेख मिल गये हैं—जैसे अजमेर के ढाई-दिन के झोंपडे में एक शिला मिली है, इसमें चाहमान की उत्पत्ति सूर्यवंश में होनी लिखी है—तथापि इस समय इस विषय पर विशेष वादविवाद न करके हम अपने प्रस्तुत विषय को ही लिखते हैं।

यह पर्वत प्राचीन समय से ही शैव, शाक्त, वैष्णव, और जैनों द्वारा पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। तथा वहाँ पर इन मतों के मन्दिरादिक होने से प्रतिवर्ष बहुत से यात्री भी दर्शनार्थ जाया करते हैं।

विक्रम संवत् १५०६ (ई० स० १४४९) के राणा कुम्भा के लेख से पाया जाता है कि, उस समय घोड़ों और बैलों द्वारा वहाँ से व्यापार आदि किया जाता था; क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिए केवल पहाड़ी मार्ग ही था। परन्तु इस समय यह पर्वत राजपूताने के एजेण्ट गवर्नर जनरल का निवासस्थान और सेनिटोरियम (स्वास्थ्यप्रद स्थान) बनगया है। तथा राजपूताना मालवा रेलवे के आवूरोड (खराडी) स्टेशन से यहाँ तक १८ माइल लम्बी सड़क भी बनादी गई है।

वहीं पर देलवाडा नामक एक स्थान है। यह स्थान अर्वुदादेवी (अधरदेवी) से क़रीव एक माइल ईशानकोण में है। यह स्थान देवालयों के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यद्यपि यहाँ पर अनेक मन्दिर हैं। तथापि यहां के आदिनाथ और नेमिनाथ के जैनमन्दिर की कारीगरी संसार में अनुपम है। ये दोनों मन्दिर सङ्गमरमर के बने हुये हैं। इन दोनों मन्दिरों में भी पोरवाड़ महाजन का बनवाया हुआ विमलवसही नामक आदिनाथ का मन्दिर विशेषतर सुन्दर और पुराना है। यह मन्दिर वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में बना था। यह बात उसमें से मिली हुई वि० सं० १३७८ (ई० स० १३२२) की प्रशस्ति से प्रकट होती है। जिनप्रभसूरि की तीर्थकल्प नामक पुस्तक से भी इस मन्दिर का रचनाकाल वि० सं० १०८८ ही प्रकट होता है।

खरतरगच्छ की पट्टावली में लिखा है :—

पोरवाड वंशोत्पन्न मंत्री विमल ने तेरह सुलतानों की छतरियों

को तोड़ कर उस स्थान पर चन्द्रावती नगर बसाया, और वहाँ पर ऋषभदेव का मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा वि० सं० १०८८ में वर्धमानसूरि द्वारा की गई।

प्रोफेसर वेबर के Catalogue of the Berlin Mss;) बर्लिन नगर की प्राचीन पुस्तकों की सूची के, दूसरे भाग के १०३६ और १०३७ वें पृष्ठों में उपर्युक्त कथा के साथ ही यह भी लिखा है कि, विमल ने जिस समय यह मन्दिर बनवाने के लिये यहाँ की भूमि ब्राह्मणों से ख़रीदी, उस समय उसको उतनी पृथ्वी पर सुवर्ण मुद्राएँ बिछाकर पृथ्वी के बदले ब्राह्मणों को देनी पड़ी। उसने इस मन्दिर के बनवाने में १८ करोड़ और ५३ लाख व्यय किये।

यह मन्दिर परमार धन्धुक के समय में बनवाया गया था। यह धन्धुक गुजरात के सोलंकी भीमदेव का सामन्त था। किसी कारणवश भीम और धन्धुक के बीच मनोमालिन्य हो गया। इस से धन्धुक आबू को छोड कर के मालवे के परमार राजा भोज के पास चला गया। भीम ने अपनी तरफ़ से विमलशाह को वहाँ का दण्डनायक (सेनापति) नियत किया। उसने कुछ समय बाद धंधुक और भीम के बीच का विरोध दूर कर इन दोनों के बीच सुलह करवादी। उसी समय उसने यह मन्दिर बनवाया था।

जैनसमाज में ऐसी प्रसिद्धि है कि इस मन्दिर के बनाने के लिए हाथियों और बैलों द्वारा पत्थर पहुँचाये गये थे।

यहाँ पर मुख्य मन्दिर के सामने एक विशाल सभा मण्डप है। इसके चारों तरफ़ अनेक छोटे छोटे जिनालय हैं। यहाँ पर मुख्य

मूर्ति ऋषभदेव (आदिनाथ) की है। इसके दोनों पार्श्वों में एक एक मूर्ति खड़ी है। इनके सिवाय यहाँ पर और भी अनेक पाषाण और पीतल की मूर्तियाँ विद्यमान हैं। परन्तु ये सब पीछे की बनी हुई प्रतीत होती हैं। हम ऊपर लिख चुके हैं कि मुख्य मन्दिर के चारों तरफ़ अनेक छोटे छोटे जिनालय हैं। इन पर के लेखों से प्रकट होता है कि इनमें की मूर्तियाँ भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न पुरुषों द्वारा स्थापन की गई हैं। मन्दिर के सामने हस्तिशाला है। यह सादे पत्थर से बनाई गई है। इसमें दरवाजे के सन्मुख विमलशाह की अश्वारूढ पत्थर की मूर्ति बनी है। परन्तु चूने की क़लई ठीक तौर से न होने से उसमें भद्दापन आगया है। इस मूर्ति के मस्तक पर गोल मुकुट है। तथा पास ही में एक काठ का बना हुआ पुरुष छत्र लिये खड़ा है। हस्तिशाला में पत्थर के बने हुए १० हाथी खड़े हैं। इनमें ६ हाथी वि० सं० १२०५ (ई० स० ११४९) फाल्गुण सुदि १० के दिन नेढक, आनन्दक, पृथ्वीपाल, धरिक, लहरक और मीनक नाम के पुरुषों ने बनवाकर रक्खे थे। इन सबों के नामों के साथ महामात्य खिताब लगा है। बाक़ी के ४ हाथियों में से एक परमार ठाकुर जगदेव ने और दूसरा महामात्य धनपाल ने वि० सं० १२३७ (ई० स० ११८०) आषाढ़ सुदि ८ को बनवाकर रक्खा था। तीसरा हाथी महामात्य धवल ने बनवाया था। इसका संवत् चूने के नीचे आजाने से पढ़ा नहीं जाता। तथा चौथे हाथी का सारा लेख चूने के नीचे दब गया है। यद्यपि पहले इन सब हाथियों पर पुरुषों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। तथापि

इस समय केवल तीन मूर्तियाँ मौजूद हैं। ये मूर्तियाँ चतुर्भुज हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रायबहादुर पं० गौरीशंकरजी का मत है कि, विमलशाह की मूर्ति और हस्तिशाला, मन्दिर के साथ की बनी हुई नहीं है, पीछे से बनवाई गई हैं। हस्तिशाला के बाहर चौहान महाराव लुंढा (लुंभा) के दो लेख लगे हैं। इनमें का प्रथम लेख वि० सं० १३७२ (ई० स० १३१६) चैत्र वदि ८ का है और दूसरा वि० सं० १३७३ (ई० स० १३१७) चैत्र बदि का, सिरोही के राव इसी के वंशज हैं।

जिनप्रभसूरि की तीर्थकल्प नाम की पुस्तक में लिखा है:—

म्लेच्छों ने विमलशाह और तेजपाल के बनवाए हुए आदिनाथ और नेमिनाथ के मन्दिरों को तोड़ डाला था। शक सं० १२४३ (वि० सं० १३७८) में महणसिंह के पुत्र लल्ल ने आदिनाथ के मन्दिर का और चण्डसिंह के पुत्र पीथड ने नेमिनाथ के मन्दिर का पीछे से जीर्णोद्धार करवाया।

वि० सं० १३७८ के आदिनाथ के मन्दिर के लेख से प्रकट होता है कि, विमल को स्वप्न में अम्बिका ने आदिनाथ का मन्दिर बनवाने की आज्ञा दी थी। उसीके अनुसार विमल ने यह मन्दिर बनवाया था। तथा राव तेजसिंह के राज्य समय वि० सं० १३७८ (ई० सं० १३२१) में लल्ल और वीजड नाम के साहूकारों ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। जिस समय यह लेख लिखा गया था, उस समय लुंभा का देहान्त हो चुका था। ऐसा इसी लेख से ज्ञात होता है।

श्री रत्नमन्दिरगणि की बनाई हुई उपदेशतरङ्गिणी में; जो विक्रम संवत् की सोलवीं शताब्दी में बनाई गई थी; इस मन्दिर के बनवाने की कथा इस प्रकार लिखी है:—

गुजरात के राजा भीम को दुश्मनों द्वारा भड़काया हुआ देखकर उसका सेनापति विमल वहाँ से पाँचसौ सवार और पाँच करोड़ सोने से लदे ऊँट लेकर चंद्रावती में चला गया। उसके इस प्रकार आगमन से चंद्रावती राजा धारावर्ष भयभीत होकर सिन्धु देश की तरफ भाग गया। विमल ने उसके स्थान पर पहुँच उसे अपना निवास नियत किया। तथा वहाँ के मांडलिकों (जागीरदारों) ने विमल को अपना राजा बना लिया। तदनन्तर उसने अपनी सेना द्वारा सांभर, मेवाड़, जालोर, आदि नगरों के सौ राजाओं को जीता।

एक समय सोते हुए १२ सुलतानों को उसने जा घेरा। तथा उनको भी अपने आधीन करलिया। उसके प्रबल प्रताप से डरकर स्वयं भीमने अपने मंत्री द्वारा विमल के पास एक करोड़ रुपये नजर के तौर पर भेजे। परन्तु विमल ने अपने स्वामी और जन्म-भूमि का विचार करके उस मंत्री को बहुत कुछ आदर सत्कार सहित पीछा भेज दिया। एक दिन श्री धर्मघोषसूरि के मुख से विमल ने एक शास्त्र वाक्य को सुना; इससे अपनी संग्राम में की हुई हिंसा पर उसको बड़ा दुःख हुआ। तथा श्रीधर्मघोषसूरि से उसने इसके प्रायश्चित्त की व्यवस्था करने की प्रार्थना की। उक्त सूरि ने उसे देवमन्दिर बनवाने आदि पुण्य कर्म करने की आज्ञा

दी। उसके बाद विमल ने अम्बादेवी की आराधना की; जिस से प्रसन्न होकर अम्बा ने वर मांगने की आज्ञा दी। विमल ने देव-मन्दिर के बनने और पुत्र होने की प्रार्थना की। इस पर अंबा ने कहा कि दोनों में से एक के लिये कह, क्योंकि दो बातें नहीं हो सकती हैं। तब विमल ने अपनी स्त्री से पूछा। उसने उत्तर दिया कि, पुत्र प्राप्ति तो पशु, पक्षि-योनि में भी हो सकती है। इस लिये मन्दिर का वर मांगो। विमल ने भी ऐसा ही किया। अम्बिका वर देकर आबू पर चली गई। विमल ने उसके कुंकुम से शोभित पृथ्वी पर उल्लिखित पदचिन्ह को खोदा, वहाँ से उसको ७२ लाख का द्रव्य मिला। इसको प्राप्त कर विमल ने मन्दिर बनवाना प्रारम्भ करदिया। परन्तु यह मन्दिर दिन में बनाया जाता था और रात को स्वयं ही गिर पड़ता था। इसी तरह ६ महिने बीत गए। तब विमल ने देवी का आह्वाहन किया। देवी ने प्रकट होकर कहा कि, यह काम इस पृथ्वी के मालिक वालीनाह नाग का है। अतः तू तीन दिन तक उपवास करके उसीकी पूजा कर और पवित्र बलि दे। परन्तु यदि वह मद्य मांस मांगे तो खड्ग निकालकर उस-को धमका देना। यह कह कर देवी चली गई। विमल ने वैसा ही किया। तथा खड्ग में अम्बिका को देखकर वालीनाह भाग गया और उस दिन से वहाँ पर केवल क्षेत्रपाल की तरह रहने लगा। मन्दिर निर्विघ्न समाप्त हुआ। संवत् १०८८ में आदिनाथ की मूर्ति स्थापन की गई। तथा वहीं पर अम्बिका की कृपा सूचित करने के लिये खञ्जर क्षेत्रपाल सहित एक अम्बिका की मूर्ति भी स्थापन

की। उस मन्दिर के कार्य की समाप्ति पर विमल ने इतना दान किया कि, जैन लोग अब तक 'विमलश्री सुप्रभातं' कहकर आशीर्वाद देते हैं।

इस कथा में कहाँ तक ऐतिहासिक सत्यता है इसको पाठक स्वयं विचार सकते हैं। इसपर विवाद करना व्यर्थ है।

इस मन्दिर में एक लेख वि० सं० १३५० (ई० स० १२९४) माघ सुदि १ का सोलंकी राजा सारंगदेव के समय का भी लगा हुआ है।

इस मन्दिर की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इससे इस समय की शिल्प-निपुणता का भी बोध होता है।

इतिहास लेखक कर्नल टॉड साहब ने इस मन्दिर के विषय में लिखा है:—

"हिन्दुस्तान भर में यह मन्दिर सर्वोत्तम है। सिवाय ताजमहल के कोई भी स्थान इसकी बराबरी नहीं कर सकता।"

इस मन्दिर के पास ही दूसरा लूणवसही नामक नेमिनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है। इसको वस्तुपाल, तेजपाल का मन्दिर कहते हैं। यह मन्दिर वस्तुपाल के छोटे भाई तेजपाल का बनवाया हुआ है। जिस प्रकार ताजमहल अपनी स्त्री की यादगार में शाहजहाँ बादशाह ने बनवाया था, उसी प्रकार तेजपाल ने अपनी स्त्री अनुपमदेवी और पुत्र लूणसिंह का नाम चिरस्थायी करने और उनके कल्याण के निमित्त यह नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया था। इसी मन्दिर में वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) फाल्गुण बदि ३

रविवार का एक लेख मिला है। उसमें लिखा है:—

वस्तुपाल और उसका छोटा भाई तेजपाल ये दोनों पोरवाड़ महाराज अश्वराज के पुत्र थे। यह अश्वराज अनहिलवाड़े का रहने वाला था। वस्तुपाल और तेजपाल ये दोनों भाई गुजरात के सोलंकी राजा वीरधवल के मन्त्री थे। तेजपालने कृष्णराज के पिता सोमसिंहदेव के राज्य समय अपने पुत्र और स्त्री के कल्याणार्थ आबू पर यह नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया। आगे चलकर इस लेख में मन्दिर का वर्णन किया गया है। इस शिला-लेख के रचयिता का नाम सोमेश्वरदेव लिखा है। यह सोमेश्वर सोलङ्की वीरधवल का पुरोहित और कीर्तिकौमुदी तथा सुरथोत्सवका कर्ता था। इसी लेखसे यह भी प्रगट होता है कि इस मन्दिर की प्रतिष्ठा नागेन्द्र गच्छ के विजयसेनसूरि ने की थी।

इस मन्दिर की बनावट भी विमलशाह के मन्दिर की सी है। इसमें मुख्य मन्दिर (गंभारा) के सामने गुंबजदार सभा मण्डप है। और उसके इर्दगिर्द छोटे छोटे जिनालय बने हैं। तथा इसके पीछे हस्तिशाला है। इसके मुख्य मन्दिर में नेमिनाथ की मूर्ति है। तथा पास के जिनालयों में भी अनेक मूर्तियाँ हैं। इनके द्वारों पर भी अलग२ लेख खुदे हैं। इनमें तेजपाल के ५२ सम्बंधियों के नाम हैं। इससे प्रगट होता है कि प्रत्येक जिनालय किसी न किसी सम्बन्धि के नाम पर बनवाया गया था। मुख्य मन्दिर के दरवाजे के दोनों पार्श्वों में बड़े ही सुन्दर दो ताक हैं। इनको लोग 'देराणी जेठाणी के आले' कहते हैं। कहा जाता है कि इसमें का एक ताक तेजपाल

की स्त्री ने और दूसरा वस्तुपाल की स्त्री ने स्वयं अपने खर्च से बनवाया था। शान्तिविजयजी की 'जैनतीर्थ गाइड' नामक पुस्तक में भी ऐसा ही लिखा है। परन्तु यह बात विश्वास योग्य नहीं हो सकती; क्योंकि उन दोनों ताकों पर एक ही प्रकार के लेख हैं। उनका आशय इस प्रकार है :—

वि० सं० १२९० वैशाख वदि १४ बृहस्पतिवार के दिन अपनी दूसरी स्त्री सुहडादेवी के कल्याणार्थ ये ताक और अजितनाथ का चित्र तेजपाल ने बनवाया।

यद्यपि इस समय गुजरात में पोरवाड और मोढ जाति के महाजनों के बीच विवाह सम्बन्ध नहीं होता है। तथापि यह संबंध बारहवीं शताब्दी में होता था। ऐसा इस लेख से प्रकट होता है।

इस मन्दिर की हस्तिशाला में संगमरमर की १० हथनियाँ एक पंक्ति में खड़ी हैं। इन पर चण्डप, चण्डप्रसाद, सोमसिंह, अश्वराज, लूणिग, मल्लदेव, वस्तुपाल, तेजपाल, जैत्रसिंह और लूणसिंह (लावण्यसिंह) की मूर्तियें बैठाई गई थीं। परन्तु इस समय उनमें से एक भी विद्यमान नहीं हैं। इन हथनियों के पीछे की तरफ़ पूर्व की दीवार में १० ताक हैं। इनमें भी इन्हीं दस पुरुषों की सस्त्रीक मूर्तियें बनी हुई हैं। इनके हाथों में पुष्पमालाएँ हैं। तथा वस्तुपाल के मस्तक पर छत्र भी बना हुआ है। प्रत्येक स्त्री पुरुषों की मूर्ति के नीचे उनका नाम खुदा हुआ है।

इनका संक्षिप्त वर्णन पूर्वोक्त वि० सं० १२८७ के लेख में भी किया गया है।

प्रथम ताक में चार मूर्तियें हैं। पहली आचार्य उदयप्रभ की, दूसरी आचार्य विजयसेन की; तथा तीसरी और चौथी चण्डप और उसकी स्त्री चाँपलादेवी की है।

इस मन्दिर के बनाने वाले इञ्जीनियर का नाम शोभनदेव था। इस तरह अपने सारे कुटुम्ब का स्मारक चिन्ह बनाकर उनके नाम को अमर करने वाला तेजपाल के सिवाय शायद ही कोई दूसरा पुरुष हुआ हो।

इसी मन्दिर में वि० सं० १२८७ फाल्गुण वदि ३ रविवार का एक दूसरा शिलालेख लगा है। इसमें यहाँ के वार्षिकोत्सव आदि की व्यवस्था का वर्णन है। तथा साथ ही उसमें सहायता देनेवाले महाजनों के नाम और गाँव भी लिखे हैं।

पूर्वोक्त उपदेशतरङ्गिणी में इस मन्दिर के रचना का वृतान्त इस तरह लिखा है:—

एक समय बहुत से साथियों सहित वस्तुपाल और तेजपाल धवलक्क (धौलका) गाँव से हडाला में आए। वहाँ पहुँचने पर जब उनको विदित हुआ कि आगे रास्ते में लुटेरों का भय है, तब उन्होंने अपने विश्वासी पुरुषों सहित आपस में विचार कर रात्रि के समय अपने धन को तांबे के कलसों में भर दिया और उन कलसों को पृथ्वी में गाड़ने के लिये तालाब के निकट एक गेहूं के खेत में ले आए तथा वहाँ पहुँचकर एक खेजड़ी के वृक्ष के नीचे खोदना आरम्भ किया। वहाँ पर वस्तुपाल के भाग्य से बड़ा भारी खजाना निकला। इसको देखकर सारे पुरुष विस्मित हो गये।

इसके अनन्तर उन्होंने अपना धन भी उसी में डालकर उसे छिपा दिया और वहाँ से चले आए तथा विचारने लगे कि इतने द्रव्य का क्या किया जाय ? उनको चिन्तित देखकर अनुपमदेवी ने उनसे इसका कारण पूछा। इस पर एकान्त में उससे उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा। यह सुन कर उसने उत्तर दिया कि, इस तरह धन को छिपाना उचित नहीं है। इसको इस तरह से छिपाना चाहिये, जिससे प्रत्येक पुरुष इसे देखकर भी ले जा न सके। अर्थात् इस द्रव्य से मन्दिर आदि बनवा देने चाहियें। इस बात को उन्होंने भी पसंद करलिया। तथा वहाँ से द्रव्य लाकर मन्दिर आदिक बनवाए।

आगे चलकर उसी पुस्तक में लिखा है कि, प्रथम धौलका नामक ग्राम में रहनेवाले लूणिग, मालदेव, वस्तुपाल और तेजपाल बहुत निर्धन थे। अपनी निर्धनता के कारण मरते समय अपने कुटुंब से द्रव्यादिक दान करने की प्रतिज्ञा न करवाकर लूणिग ने केवल तीन लाख प्रणाम् (नवकार) करने की प्रतिज्ञा करवाई (अर्थात् तीन लाख नवकारों के स्मरण करने से जो पुण्य होता है वह मांगा) अपने भाई की ऐसी अवस्था देखकर वस्तुपाल ने और भी कुछ इच्छा प्रकट करने की प्रार्थना की। यह सुन कर लूणिग ने कहा कि, आबू के विमलवसही नाम के मन्दिर में देवकुलिका (देवालय) बनवाने की मेरी इच्छा थी; सो यदि हो सके तो इसे पूरी करना।

जब वस्तुपाल और तेजपाल को द्रव्य लाभ हुआ; तब उन्होंने

चन्द्रावती के राजा धारावर्ष से मन्दिर बनवाने के लिये ज़मीन ख़रीदी। उसकी क़ीमत के लिये उतनी ही पृथ्वी पर द्रम्म बिछा कर राजा को दिये। तथा उस ख़रीदी हुई पृथ्वी पर सूत्रधार शोभन द्वारा यह मन्दिर बनवाया। परन्तु इसकी सामग्री एकत्रित करने के लिए इसके पहले उन्हें मार्ग में स्थान स्थान पर जलाशयों और भोजनालयों का प्रबन्ध करवाना पड़ा। १५ सौ कारीगर इस मन्दिर में कार्य करते थे। इस तरह यह मन्दिर तीन वर्ष में समाप्त हुआ। इसके लिये पत्थर इकट्ठे करने में पत्थरों ही के समान रुपये ख़र्च करने पड़े। संवत् १२८३ में यह कार्य प्रारम्भ हुआ और संवत् १२९२ में इसकी प्रतिष्ठा हुई। मन्दिर में १२ करोड़ ५३ लाख रुपये लगे। इसका नाम लूणिगवसही रक्खा। लोग इसको तेजपाल-वसही कहने लगे। इसकी प्रतिष्ठा के समय ८४ राणक, १२ मंडलीक, ४ महीधर और ८४ जाति के महाराज एकत्रित हुए थे। इन सब के सामने जालोर के राजा चौहान श्री उदयसिंह के प्रधान यशोवीर से वस्तुपाल ने इस मन्दिर की बनावट के गुण और दोष पूछे। उस समय उसने सूत्रधार शोभन से कहना प्रारम्भ किया कि, "हे शोभन! तेरी माँ के कीर्तिस्तम्भ पर तेरी माता की मूर्ति का हाथ ऊपर को होना उचित नहीं है; क्योंकि उसका पुत्र तू केवल कारीगर ही है; जो कि स्वभावतः ही लालची होते हैं। परंतु दानी वस्तुपाल की माता का हाथ ऊपर होना ही उचित है; क्योंकि उसने अपने गर्भ से ऐसे उदार पुरुष को जन्म दिया है। अन्दर के मन्दिर के दरवाज़े पर के तोरण में दो सिंह लगाए हैं। इस से

इस में विशेष पूजा आदि का अभाव रहेगा। पूर्वजों की मूर्तियों को जिन के पृष्ठ भाग में लगाने से इनके वंशजों का ऐश्वर्य नष्ट होगा। ऊपर आकाश की तरफ़ मुनि की मूर्ति लगाने से यहाँ पर दर्शन और पूजन के लिये बहुत कम पुरुष आया करेंगे। जिन-मन्दिर के रङ्गमण्डप में विलास करती हुई पुतलियों का बताना अनुचित है। इसकी सीढ़ियाँ छोटी होने से इस वंश में सन्तान का अभाव होना प्रकट होता है। बारह हाथ लंबी छीनों के टूटने से मन्दिर का नाश हो सकता है। बाहर के दरवाजे पर क़ीमती स्तंभ लगवाए गए हैं। उनके लिए दुष्ट लोग मन्दिर तोड़ने की कोशिश करेंगे। मेघमण्डप में की प्रतिमा बहुत ऊँची होने से अपूज्य रहेगी। मन्दिर से मठ ऊँचे हैं। हस्तिशाला पृष्ठ में होने से इस मन्दिर के दरवाजे पर हाथी नहीं रहेंगे, इत्यादि अनेक दोष, हे शोभन! इसकी बनावट में रह गए हैं।"

यह सुनकर वस्तुपाल ने होनहार इसी तरह समझा।

परिडत सोमधर्मगणि की बनाई उपदेशसप्ततिका में, जिनप्रभसूरि रचित तीर्थकल्प में और परिडत श्रीलावण्यसमय विरचित विमलरास में भी इस मन्दिर का वृत्तान्त रत्नमन्दिरगणी की बनाई उपदेशतरङ्गिणी से मिलता हुआ ही है; जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अतः प्रत्येक के अलग अलग वर्णन करने का विशेष प्रयोजन नहीं, परन्तु पाठकों के विचारार्थ एक विषय यहाँ पर लिख देना आवश्यक है। वह यह है:—

हम यथास्थान लिख चुके हैं कि, वि० सं० १२८७ के लेख में

लिखा है; अपनी स्त्री अनुपमदेवी और पुत्र लावण्यसिंह के कल्याणार्थ तेजपाल ने यह नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया था। परन्तु उपर्युक्त चारों पुस्तकों में अपने पुत्र लावण्यसिंह के बदले अपने भाई लूणिग के लिये तेजपाल ने यह मन्दिर बनवाया, ऐसा लिखा है। हमारी समझ में लूणिग और लूणसिंह (लावण्यसिंह) नाम बहुत कुछ मिलते हुए होने से यह गड़बड़ हुई है। तथा तेजपाल का खुद अपने सामने बनवाया हुआ होनेसे प्रशस्ति का लेख ही अधिक विश्वास योग्य है।

जिनप्रभसूरि के तीर्थकल्प में इसका रचनाकाल वि०सं०१२८८ लिखा है।

इस मन्दिर का जीर्णोद्धार पेथड़ नाम के साहूकार ने करवाया था; क्योंकि, इस मन्दिर को भी मुसलमानों ने तोड़ डाला था। इसके जीर्णोद्धार का लेख स्तम्भ पर खुदा हुआ है। परन्तु इस में संवत् नहीं है। जिनप्रभसूरि ने अपने तीर्थकल्प में इसके जीर्णोद्धार का समय श० सं० १२४३ (वि० सं० १३७८) लिखा है। यह बात हम आदिनाथ के मन्दिर के जीर्णोद्धार के वर्णन में लिख चुके हैं।

यद्यपि यह पता नहीं चलता कि इन मन्दिरों को मुसलमानों ने किस समय तोड़ा। तथापि श्रीयुत पण्डित गौरीशंकरजी का अनुमान है कि "तीर्थकल्प वि० सं० १३४९ (ई० स० १२९२) और वि० सं० १३८४ (ई० स० १३२७) के बीच बना था। इसमें इन मन्दिरों का मुसलमानों द्वारा तोड़ा जाना लिखा है। अतएव वि० सं० १३६६ (ई० स० १३०९) के आसपास जिस समय

अलाउद्दीन ख़िलजी की फौज ने जालोर के चौहान राजा कान्हड़-देव पर चढ़ाई की; शायद उसी समय ये मन्दिर तोड़े गये हों।

जीर्णोद्धार में बना हुआ काम सुन्दरता में पुराने कार्य की बराबरी नहीं कर सकता है। पुराने समय का कार्य बहुत ही सुन्दर है।

अब हम इसकी प्रशंसा में अपनी तरफ से कुछ न कहकर हिन्दुस्तानियों के पूर्व पुरुषों को असभ्य समझनेवाली सभ्याभिमानी यूरोपियन जाति के कुछ सहृदय विद्वानों की सम्मति उद्धृत करते हैं।

भारतीय शिल्प के भिज्ञ लेखक फर्गुसन साहब ने अपनी 'पिक्चर्स इलस्ट्रेशन्स ऑफ एनशियेन्ट आर्किटेक्चर इन हिन्दुस्थान' नामक पुस्तक में लिखा है:—

"इस संगमरमर के बने हुए मन्दिर में अति कठोर परिश्रम सहनशील हिन्दुओं की टांकी से फीते के समान बारीकी से ऐसी मनोहर आकृतियें बनाई गई हैं; जिनका नक़शा काग़ज़ पर बनाने में बहुत परिश्रम और समय नष्ट करने पर भी मैं समर्थ नहीं हो सकता।"

कर्नल टॉड ने यहाँ के गुम्बज की कारीगरी के लिये लिखा है:—

"इसका चित्र तैयार करने में क़लम थक जाती है। अत्यन्त परिश्रमी चित्रकार की क़लम को भी इसके चित्र में बहुत श्रम पड़ेगा।"

रासमाला के लेखक प्रसिद्ध ऐतिहासिक फार्बस साहब ने इन दोनों आदिनाथ और नेमिनाथ के मन्दिरों के विषय में लिखा है:—

"इस मन्दिरों की खुदाई में केवल स्वाभाविक निर्जीव पदार्थों के चित्र ही नहीं बनाए गए हैं, किन्तु सांसारिक जीवन के दृश्य
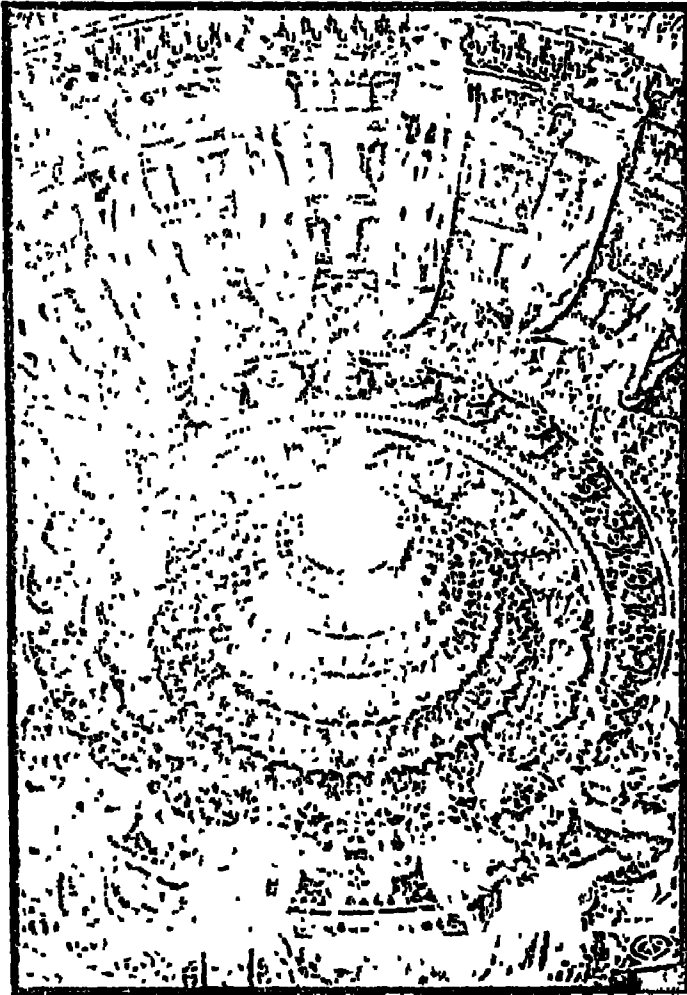
आबू के देलवाड़ा मन्दिर का एक दृश्य

''इसका नक़शा कागज पर भी बनाने में बहुत परिश्रम और समय नष्ट करने पर भी मैं समर्थ नहीं हो सकता।

—फर्गुसन (साहब)

के व्यापार और नौका सम्बन्धी चित्र तथा संग्राम सम्बंधी चित्र भी अङ्कित किये गये हैं इसके अलावा इसकी छतों में जैनधर्म से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं के चित्र भी खोदे गए हैं।"

कर्नल टॉड को, जिस समय वे विलायत को लौट गए थे; मिसेज विलिय हण्टरवेर ने तेजपाल के मन्दिर के गुम्बज का एक चित्र बनाकर दिया था। इससे टॉड साहब उन मेमसाहब के इतने कृतज्ञ हुए कि, आपने अपनी बनाई हुई 'ट्रैवल्स इन वैस्टर्न इण्डिया' नाम की पुस्तक उन्हें अर्पण (Dedicate) करदी।

ये दोनों मन्दिर बहुत ही सुंदर और एक दूसरे की बराबरी के हैं। इनसे उस समय के इञ्जीनियरों की शिल्प-निपुणता, तथा उस समय के लोगों की सभ्यता, धर्म-निष्ठता, धनाढ्यता और उदारता साफ झलकती है।

तेजपाल के मन्दिर से थोड़ी ही दूर पर भीमासाह का बनवाया हुआ मन्दिर है। इसको अब लोग भैंसासाह कहते हैं। इसमें १०८ मन वजन पीतल की आदिनाथ की मूर्ति है। (इसको सर्व धातु की मूर्ति भी कहते हैं) यह मूर्ति वि०सं०१५२५ (ई०स०१४६९) फाल्गुन सुदि ८ को गूर्जर श्रीमालजाति के मन्त्री सुन्दर और गदा ने स्थापित की थी। ये दोनों मन्त्री मण्डन के पुत्र थे।

इन मन्दिरों के सिवाय वहाँ पर श्वेताम्बर जैनों के दो मन्दिर और भी हैं। एक शान्तिनाथ का और दूसरा चौमुखजी का। वहाँ पर एक दिगम्बर जैन-मन्दिर भी है।

राजस्थान जैन जन-संख्या

(सन् १९३१)

१.	जोधपुर (मारवाड़)	११३,६६९
२.	बीकानेर (जाँगल)	२९७७३
३.	जैसलमेर (माड)	९१७
४.	जयपुर (ढूंढाड़)	२९४९९
५.	उदयपुर (मेवाड़)	६६००१
६.	कोटा (हाड़ोती)	५१९४
७.	अलवर	३९०९
८.	टौंक	६९६९
९.	बून्दी (हाड़ोती)	४०१९
१०.	भरतपुर	२३९०
११.	सिरोही	१५५०९
१२.	बांसवाड़ा	४५९७
१३.	डूंगरपुर	५९०१
१४.	करौली	४४९
१५.	धौलपुर	१७९९
१६.	प्रतापगढ़	४४४५
१७.	किशनगढ़	२२३१
१८.	झालवाड़	२६३०
१९.	शाहपुरा	१४१९
२०.	कुशलगढ़	५९३
२१.	लावा	१३५
२२.	आबू	२१
२३.	अजमेर (मेरवाड़ा)	१९४९७
	कुल संख्या	३२०५५९

सिंहावलोकन

नेक और बद में है क्या फ़र्क़ बताने वाले,
जो हैं गुमराह उन्हें राह पै लाने वाले;
रहमोउल्फ़त का सबक़ सब को सिखाने वाले,
हैं ज़माने में हमीं धाक़ बिठाने वाले;
बेख़बर जो थे उन्हें, हमने ख़बरदार किया।
ख़्वाबेग़फ़लत से हरइक शख़्श को हुश्यार किया॥

—"दास"

संक्षेप में राजपूताने के जैन-वीरों का यही परिचय है। नहीं मालूम ऐसे-ऐसे कितने नर-रत्न संसार-सागर के अन्त-स्थल में मूल्यवान मोती की भांति छिपे हुये पड़े हैं, बक़ौल "इक़बाल" साहब:—

अपने सहरा में अभी आहू बहुत पोशीदा हैं।
बिजलियां बरसे हुये बादल में भी ख्वाबीदा हैं॥

इन्हीं नर-रत्नों में से कुछ को इतिहास के उदर-गह्वर से निकाल कर प्रकाश में लाने का यह असफल प्रयत्न किया है। इससे अधिक साधनाभाव, समयाभाव आदि के कारण नहीं लिखा जा सका है। यद्यपि समस्त राजपूताना जैन-वीरों की क्रीड़ा स्थली रहा है, वहाँ का चप्पा-चप्पा उनके पवित्र बलिदान से दैदीप्यमान है, किन्तु प्रस्तुत पृष्ठों में इनीगिनी रियासतों के कुछेक वीरों का परिचयमात्र ही दिया जा सका है। अस्तु जितना भी संकलन किया जा सका है, वह भला है या बुरा, शुष्क है या नीरस, जैसा भी है पाठकों के करकमलों में है।

एक बार राजपूताने के एक प्रसिद्ध नेताने वहाँ के वर्तमान राजाओं की शासन-प्रणाली और स्वच्छन्द वृत्ति का जिक्र करते

हुऐ दुख भरे शब्दों में कहा था कि "राजपूताने की रियासतों के निर्माण में जैनियों का पूर्ण सहयोग रहा है, यदि इनका इस में हाथ न रहा होता, तो इन रियास्तों का आज से कई सौ वर्ष पहिले अस्तित्व ही मिट गया होता। उस वक्त इन रियासतों के अस्तित्व बनाये रखने में उन जैनों के भाव भले ही श्रेष्ठ रहे हों, पर आज तो हमें उनकी इस करनी के कड़वे फल चखने पड़ रहे हैं।" उस समय मैंने उनके इन शब्दों को अत्युक्ति समझ कर उपहास में उड़ा दिया था, किन्तु अब मैं उक्त शब्दों की सार्थकता समझ पाया हूँ।

जो महानुभाव राजपूताने में रहते हैं अथवा जिन्होंने राजपूताने के इतिहास का अध्ययन किया है, वह भली भान्ति जानते हैं, कि राजपूतानान्तरगत प्रायः सभी रियासतों के जैन-धर्मावलम्बी सदियों पुश्तानपुश्त मंत्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि होते रहे हैं।

राज्य की बागडोर, सैन्य-संचालन और राजकोष हस्तगत करने से पूर्व किसी जाति को, उस देश के प्रति कितना अधिक अनुराग, बलिदान, आत्म-त्याग करना पड़ता है और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुये सब धर्मों और सब क़ौमों के लिये कितना उदार-हृदय होना पड़ता है। यह विज्ञ पाठकों से ओझल नहीं। फिर सदियों जिस जाति के अधिकार में यह महत्व पूर्ण गौरवास्पद रहे हों, उस जाति की महानता, वीरता, त्याग, शौर्य आदि का अन्दाज़ा लगाने के लिये, सिवाय अनुमान की तराज़ू पर तोलने के और क्या उपाय हो सकता है? सदियों एक ही

धर्मावलम्बी राज्य के भिन्न धर्मी होते हुये भी सेनापति, मन्त्री आदि होते रहे हों; राजपूताने के सिवाय संसार के किसी भी भाग में ऐसे उदाहरण शायद ही मिलें।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ इने गिने मंत्री और सेनापतियों का उल्लेख किया गया है, पर इनको इस पद तक पहुँचाने में, इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में, और इनको विजयमाल पहनानेमें इनके असंख्य अनुयाइयों को अपनी आहुति देनी पड़ी होगी, क्योंकि जब तक कोई जाति अपने को मिटाकर खाक में मिला नहीं देती, तब तक उसे उपयुक्त फल की प्राप्ति नहीं होती ‡।

उस ज़माने में राजपूताने के जैनियों का सैनिक जीवन था। वह अपने देश, धर्म और स्वामी के लिये मिटना अपना धर्म समझते थे। किसी ने भी देश-द्रोह या विश्वासघात किया हो, अथवा युद्ध से पीठ दिखाई हो, सौभाग्य से ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता। जैन-वीरों ने अपनी प्रखर प्रतिभा अद्भुत साहस अलौकिक वीरता से अनेक लोकोपयोगी कार्य किये हैं।

आज भी राजपूताने के वर्तमान जैनों के पास उनके सुयोग्य पूर्वजों को उनकी सेवाओं के उपलक्ष में मिले हुये राज्य की ओर से पट्टे (सनद, प्रमाण पत्र) आदि मौजूद हैं। जिनसे प्रकट होता

‡ जब मिटाकर अपनी हस्ती सुर्मा बन जायेगा तू।
अहले आलम की निगाहों में समा जायेगा तू॥

—"दास"

है कि, राजपूताने की रियासतों का अस्तित्व यवन-शासनकाल में उन जैन-वीरों के ही बाहु-बल से ही रह सका था। किन्तु आज उन वीरों के वंशधर उन सनदों को प्रकाशित करना तो दरकिनार अपने राजाओं के क्षोभ के भय से दिखाना भी नहीं चाहते।

पृ० ११५ पर उल्लिखित राणा राजसिंह की ओर से निकली हुई विज्ञप्ति ‡ को ही लीजिये। यह उनका पुराना हक़ क्यों है? यह हक़ कैसे कब और क्योंकर प्राप्त किया गया? "जैनस्थान के शरणागत होने पर राजद्रोही भी न पकड़ा जाय" इतना अधिकार प्राप्त करलेना क्या साधारण बात है? राजपूताने के इन जैन-वीरों के सिवा और किसी ने भी ऐसी सनद प्राप्त की हो, ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया। आज भी इस सभ्यता के युग में बड़े बड़े देशभक्त, राजभक्त, धर्मभक्त मौजूद हैं, पर क्या किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय को यह अधिकार प्राप्त है? राणा राजसिंह ने यह विज्ञप्ति जैनियों के किस बलिदान से प्रभावित होकर लिखी, इसका उत्तर देने में इतिहास के पृष्ठ असमर्थ हैं; केवल अनुमान करने से ही सन्तोष किया जा सकता है!

राणा कुम्भा ने गुजरात और मालवे के दो बादशाहों को पराजित करने की स्मृति में नौ मंजिला जयकीर्ति-स्तम्भ बनवाया था। उसपर उन्हें कितना अभिमान होगा यह लिखने की चीज़ नहीं।

---

‡ राजद्रोही, चोर, लुटेरे भी जैन-उपाश्रय से गिरफ्तार नहीं किये जाँय, वध के लिये जाता हुआ पशु यदि जैनउपाश्रय के आगे से निकले तो, वह फिर न मारा जाय-यह उनका पुराना हक़ है, आदि।

फिर उसी के समान उसी के मुक़ाबिले में राणा कुम्भा के दि० जैन मंत्री द्वारा जैन-कीर्तिस्तम्भ का बनवाया जाना कुछ अभिप्राय रखता है। भले ही उस अभिप्राय का हमें पता न लगे, पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि राणा कुम्भा ने तो, दो बादशाहों से विजय लाभ प्राप्त करने में उस अपूर्व कृति का निर्माण कराया, तब उसके मंत्री ने ऐसा कौनसा महान् कार्य किया था, जिसके कारण उसे भी राणा कुम्भा की हिर्स करनी पड़ी! पूर्व काल में तो क्या वर्तमान रियासतों में अब भी कोई कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, राजाओं की नक़ल नहीं कर सकता। राणा कुम्भा का मंत्री ही राणा जैसी स्मृति बनवाता है और राणा कुछ नहीं कहते हैं, तब उस मंत्री का उस समय कैसा प्रताप होगा और उसके कैसे२ साहस युक्त कार्य होंगे, सहज में ही अनुमान किया जा सकता है। आज भी वह कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़दुर्ग में जैन-वीरों की पवित्र स्मृति स्वरूप सीना ताने हुये खड़ा है।

मेवाड़ राज्य में एक समय सूर्यास्त के बाद भोजन करने की आज्ञा नहीं थी। इसका उल्लेख श्री० ओझाजी द्वारा अनुदित टाड् राजस्थान, जागीरी प्रथा पृ० ११ में मिलता है। यदि यह आज्ञा भी ऐतिहासिक मानी जाय, तो इससे भी प्रकट होता है कि उस समय सर्व साधारण में जैनधर्म का काफ़ी प्रचार था। राजा प्रजा दोनों ही जैनधर्म से प्रभावित थे।

इसीप्रकार मेवाड़-राज्य में जब जब क़िले की नींव रखी जाय, तब तब राज्य की ओर से जैनमन्दिर बनवाये जाने की

रीति† भी जैनियों के प्रभुत्त्व की परिचायक है।

राजाओं द्वारा जैनाचार्यों का सन्मान‡, जीव-हिंसा-निषेध

---

† इस विज्ञप्ति की नक़ल मेहता बलवन्तसिंहजी की कृपा से प्राप्त हुई है, जो ज्यों की त्यों उद्धृत की जाती है :—

स्वस्ति श्री एकलिंगजी परसादातु महाराजाधिराज महाराणाजी श्री कुंभाजी आदेसातु मेदपाट रा उमराव थावो दार कामदार समस्त महाजन पंचा कस्य अप्रं॥ आपणे अठे श्री पूज तपागछ का तो देवेन्द्रसूरिजी का पंथ का तथा पुनम्या गच्छ का हेमाचारजजी को परमोद है। धरम ज्ञान बतायो सो अठे अणां को पंथ को होवेगा जणीने मानागा पूजांगा। परथम (प्रथम) तो आगे सु ही आपणं गढ़ कोट में नींव दे जद पहीला श्री रिषमदेवजी रा देवरा की नींव देवाड़े है पूजा करे है अबे अजु ही मानागा। सिसोदा पग को होवेगा ने सरेपान (सुरापान) पीवेगा नहीं और धरम मुरजाद में जीव राखणो या मुरजादा लोयेगा जणी ने म्हासत्रा (महासतियों) की आण है और फेल करेगा जणी ने तलाक है सं० १४७१ काती सुद ५

‡ इस सम्बन्ध की भी मुझे दो विज्ञप्ति मेहता बलवन्तसिंहजी की कृपा से प्राप्त हुई हैं, एक गुजराती में (जो जैनग्रन्थगाइड में प्रकाशित हुई है) और दूसरी मेवाड़ी भाषा में। यहां गुजराती विज्ञप्ति का हिन्दी अनुवाद दिया जाता है और मेवाड़ी भाषा का रसास्वादन कराने के लिये दूसरी विज्ञप्ति ज्यों की त्यों दे दी गई है।

१—उदयपुर के महाराणा जगतसिंहजी ने आचार्य विजयदेवसूरि के उपदेश से प्रतिवर्ष पोष सुदी १० को वरकाणा (गोड़वाड़) तीर्थ पर होने वाले मेले में आगन्तुक यात्रियों पर से टेक्स लेना रोक दिया था और सदैव के लिये इस आज्ञा को एक शिला पर खुदवाकर मन्दिर के दरवाज़े के आगे लगवा दिया था, जो कि अभी तक मौजूद है। राणा जगतसिंह के प्रधान झाला कल्याणसिंह के

विज्ञप्ति, उपाश्रयों और जैन मन्दिरों को अब तक रियासतों द्वारा सहायता मिलती रहना; उस अतीत काल में की गई जैनियों की सुकृतियों का द्योतक है।

निमंत्रण पर उक्त आचार्य ने उदयपुर में चातुर्मास किया। चतुर्मास समाप्त होने के वक्त एक रात दलबादल महल में विश्राम किया, तब महराणा जगतसिंह जी नमस्कार करने को गये और आचार्य के उपदेश से निम्नलिखित चार बातें स्वीकार कीं।

(क) उदयपुर के पीछोला सरोवर और उदयसागर में मछलियों को कोई न पकड़े।

(ख) राज्यभिषेक वाले रोज़ जीव-हिंसा बन्द

(ग) जन्म-मास और भाद्रपद में जीव-हिंसा बन्द।

(घ) मचींदंदुर्ग पर राणा कुम्भा द्वारा बनवाये गये जैन चैत्यालय का पुनरुद्धार।

इन्हीं विजयदेवसूरि को जहाँगीर बादशाह ने "महातपा" पदवी प्रदान की थी।

२—दूसरी मेवाड़ी विज्ञप्ति निम्न प्रकार है :—

स्वस्त श्री मगसुदा नग्र म्हा सुभ सुथानै सरब औपमालाअंक भटारकजी महाराज श्री हीरवजेसूरजी चरण कुमला अेण स्वस्त श्री वजे कटक चांवडरा डेरा सुथाने महाराजाधिराज श्री राणा प्रतापसिंघजी लीः पगे लागणो बचसी. अठारा समाचार भला है आपरा सदा भला छाइजे आप बड़ा हे पूजणीक हे सदा करपा राखे जीसु ससट (श्रेष्ठ) रखावेगा अप्रं १ आपरो पत्र अणादना म्हे आया नहीं सो करपां कर लषावेगा। श्री बड़ा हजूर री वगत पदार वो हुवो जीमें अठासुं पाछा पदारता पातसा अकब्र जी ने जेनाबाद म्हे ग्रानं रा प्रतिबोद दी दो जीरो चमत्कार मोटो बताया जीव हसा (हिंसा) छरकली (चिड़ियां) तथा नाम पंखेरु

जिन महानुभावों ने राजपूताने के इतिहास का सूक्ष्म रीति से अवलोकन किया है, वे जानते हैं कि राजपूताने के प्रत्येक गौरव युक्त कार्य में जैनों का हाथ रहा है। जैनेतर क्षत्रियों और जैन-वीरों का चान्द-चान्दनी जैसा सम्बन्ध रहा है। जब जैन धर्मनिष्ठ थे, उनकी भुजाओं में बल, व्यवहार में नम्रता, आँखों में ओज, गले में मधुरता, चेहरे पर कान्ति, शरीर सुडोल, हृदय में साहस

(पक्षी) वेती सो माफ कराई जीरो मोटो उपगार कीदो सो श्री जैनरा प्रम में आप असाहीज अदोतकारी अजार की से (समय) देखता आपजु फेर वे न्हीं आवी पूरव, हीद सथान अत्रबेद गुजरात सुदा चारु दसा म्हे धरमरो बडो अदोतकार देखाणो, जठा पछे आपरो पदारणो हुवो न्ही सो कारण कही वेगा पदारसी आगेसु पटा प्रवाना कारण रा दस्तूर माफक आप्रे हे जी माफक तोल मुरजाद सामो आवो सावत रेगा श्री बड़ा हजूर री वषत आप्री मुरजाद सामो आवारी कसर पड़ी सुणी सो काम कारण लेखे भूल रही वेगा जी रो अदेसो न्हीं जाणेगा, आगे सु श्री हेमा आचारजी ने श्री राज म्हे मान्या हे जीरो पटो कर देवाणो जी माफक अ रो पगरा भटारष गादी प्र आवेगा तो पटा माफक मान्या जावेगा श्री हेमाचारजी पेला श्री बड़गछरा भटारषजी ने बड़ा कारण सुं श्री राज म्हे मान्या जी माफक आपने आपरा पगरा गादी प्र पाटवी तपगछरा ने मान्या जावेगा री सुवाये देस म्हे आप्रे गछरो देवरो त्या उपासरो वेगा जीरो मुरजाद श्री राजसु वा दुजा गछरा भटारष आवेगा सो राखेगा श्री समरण ध्यान देवजात्रा करे जठे याद करावसी भुलसी नहीं ने वेगा पदारसी: प्रवानगी पंचोली गोरो समत् १६३५ रा वर्ष आसोज सुद ५ गुरुवार।

और दुखी निराश्रितों के लिये पहलू में दर्द, कलेजे में तड़प थी; तब उनका राजपूताने में क्या जहाँ भी वह रहते थे, उनका अलौकिक चमत्कार था, उनके पुण्यशील परमाणुओं का राजा-प्रजा सभी पर असर पड़ता था। उन्होंने अपने अलौकिक चमत्कार से कितने ही चिरस्मरणीय कार्य सम्पन्न किये, उनकी सदाचार वृत्ति और वीर-प्रकृति से प्रभावित होकर कितने ही राजा और सरदार उनके धर्म के अनुयायी बने। यही कारण है कि उस काल में करोड़ों राजपूत जैनधर्म में दीक्षित होगये, जो कि अब ओसवाल कहलाते हैं।

जहाँ राजपूताने के जैन-वीरों ने युद्ध और राजनीति में साहस एवं बुद्धि का परिचय दिया है, वहाँ आबू आदि जैसे दुर्गम स्थानों पर मन्दरादि बनवाकर उन्होंने शिल्प-चातुर्यता का भी अधिकार प्राप्त किया है। इस मेशीनरीयुग में भी बड़ेर इंजीनियर उन भव्य इमारतों के बनवाने में असमर्थ हैं, तब उन्होंने उस साधन हीन युग में उन मन्दिरों का निर्माण करके सफलता प्राप्त की है।

इसी प्रकार जब जान, माल, और आबरू की बाजी लगी हुई थी। उस युद्ध काल के दूषित और दुर्गन्धमय वातावरण में स्वच्छन्द और स्वतन्त्र स्वास लेना दूभर हो रहा था। नित्यप्रति धार्मिक स्थान धराशायी और पुस्तकालय भस्मीभूत किये जाते थे, तब ऐसी विकट परिस्थिती में रहत हुये भी उन जैनों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है और प्राचीन पुरातन ग्रन्थों को सीने से लगा कर नागौर जैसलमेर आदि स्थानों पर सुरक्षित रक्खा है।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन-वीरांगनाओं का उल्लेख साधना-भाव के कारण नहीं किया जा सका है किन्तु इस से यह न समझ लेना चाहिये कि वह विलासिता की मूर्ति बनी रहती थीं। नहीं, वह भी वीर-दुहिता थीं। वे ही उक्त वीरों की जननी-भगनी और पत्नी थीं। जब पति, भाई और पुत्र धर्म के लिये युद्ध में जूझ मरते थे, तब जैन महिलाएँ भी अपने कर्तव्य-पालन में पुरुषों से पीछे नहीं रहती थीं। आज भी राजपूताने में विशेष कर मारवाड़ में मुहल्लों मुहल्लों में जैन सतियों के करकमलों के पवित्र चिन्ह विद्यमान हैं।

यह माना कि आज हमारे उक्त पूर्वज इस भौतिक शरीर में नहीं हैं, तौभी उनकी सुकीर्ति संसार में अभीतक स्थायी बनी हुई है। ऐसे ही स्वर्गीय वीरों को सम्बोधन करके किसी सहृदय कवि ने क्या ख़ूब लिखा है :—

तुम्हें कहता है मुर्दा कौन, तुम ज़िन्दों के ज़िन्दा हो।
तुम्हारी नेकियाँ बाक़ी, तुम्हारी ख़ूबियाँ बाक़ी ॥
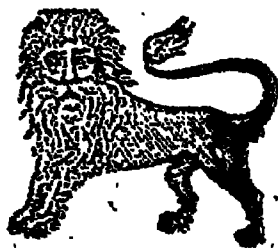
सहायक ग्रन्थ सूची

प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण में निम्न लिखित लेखकों, सम्पादकों और कवियों की कृतियों से विशेषतया सहायता मिली है, और कई स्थलों पर उनके अवतरण और मत उद्धृत किये गये हैं, अतएव मैं उनकी मूल्यवान रचनाओं का हृदय से आभारी हूँ।

—गोयलीय

रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत—

राजपूताने का इतिहास भाग चार

पं० बलदेवप्रसाद द्वारा अनुवादित—

टॉड राजस्थान प्रथम भाग सन् १९२५ द्वितीय भाग १९०५

मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित—प्राचीन जैन-लेख-संग्रह द्वि०भाग

कुँवर जगदीशसिंह गहलोत कृत—मारवाड़ राज्य का इतिहास

ज्ञान मण्डल काशी से प्रकाशित—भारतवर्ष का इतिहास

ब्र० शीतलप्रसाद द्वारा सम्पादित—राजपूताने के प्राचीन जैन-स्मारक

प्रो० बनारसीदास एम. ए. कृत और पं० देवीसहाय द्वारा अनुवादित—जैन इतिहास सीरीज प्र० भा०

बा० उमरावसिंह टाँक कृत—Some Distinguished Jains

और जैन हितैषी में प्रकाशित लेख

नागरी प्रचारणी सभा से प्रकाशित—

मुहणोत नैणसी की ख्यात प्रथम भाग

मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ कृत—राज रसनामृत प्रथम भाग

मेहता कृष्णसिंह कृत—रा० ब० मेहता विजयसिंह जीवन-चरित्र
बम्बई से प्रकाशित—दि० जैन डायरेक्टरी
मुनि शान्तिविजय कृत—श्वेताम्बर जैन-तीर्थ-गाइड
यति श्रीपाल कृत—जैनसम्प्रदायशिक्षा
महामहोपाध्याय पं० रामकर्ण और साहित्याचार्य प्रो० विश्वेश्वरनाथ रेउ, द्वारा लिखित—जैनसाहित्यसम्मेलन-विवरण में प्रकाशित, लेख
कवि रवीन्द्रनाथ कृत और बा० महावीरप्रसाद द्वारा अनुदित—स्वदेश
बा० सूरजमल द्वारा संग्रहीत—जैनधर्म का महत्व प्रथम भाग
पं० झाबरमल्ल शर्मा द्वारा लिखित—हिन्दू संसार में प्रकाशित १ लेख
पं० शोभालाल शास्त्री द्वारा लिखित—नागरी प्रचारणी पत्रिका में ,, ,,
अज्ञात विद्वानों द्वारा लिखित—चाँद, त्यागभूमि ओसवाल आदि में प्रकाशित कई लेख
सर डा० मुहम्मद "इक़बाल" कृत—बांगेदरा
श्रीवियोगीहरि कृत—वीर-सतसई
बा० मैथिलीशरण गुप्त कृत—भारत भारती

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध", पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा, श्री सोहनलाल द्विवेदी, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, लाला शेरसिंह साहब "नाज़", पं० राधेश्याम कवि-रत्न, श्रीछैलविहारी "कण्टक" महाकवि "हाली" तथा कई अज्ञात कवियों की सामयिक पत्रों में प्रकाशित कविताएँ।

लोकमत

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय कृत "मौर्य-साम्राज्य के जैनवीर" दिसम्बर सन् ३२ में प्रकाशित हुआ था। इन दो-तीन महिनों में ही उसका काफी आदर हुआ है। उस पर अनेक विद्वान् और समाचार पत्रों ने अपनी सम्मति प्रगट की हैं, जिनमें से कुछ सम्मतियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

भूमिका-लेखक साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, जोधपुर:—

"इस पुस्तक की भाषा मनको फड़कानेवाली, युक्तियाँ सप्रमाण और ग्राह्य तथा विचारशैली साम्प्रदायिकता से रहित, समयोपयोगी और उच्च है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ लेने से केवल जैनों के ही नहीं, प्रत्युत भारतवासी मात्र के हृत्पट पर अपने देश के अतीत गौरव के एक अंश का चित्र अंकित हुये बिना न रहेगा। ऐसा कौन अभागा भारतवासी होगा, जो अयोध्याप्रसादजी गोयलीय की लिखी भारत की क़रीब साढ़ेबाईससौ वर्ष पुरानी इस सारगर्भित और सच्ची गौरव-गाथा को सुनकर उत्साहित न होगा। पुस्तक हर पहलू से उपादेय और सप्रमाण है"।

प्रोफेसर हीरालाल एम. ए. एल. एल-बी. अमरावती:—

"इतिहास और साहित्य दोनों दृष्टियों से पुस्तक उपयोगी है। कठिन परिस्थिति में पड़ कर भी गोयलीयजी उत्तम साहित्य-सेवा

कर रहे हैं, इसके लिये समाज को उनका बहुत कृतज्ञ होना चाहिये"।

श्री० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. प्रो० राजाराम कालेज कोल्हापुरः—

"श्री गोयलीयजी धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने अपनी प्रवाह-युक्त भाषा में यह पुस्तक लिखकर इक सार्वजनिक आवश्यकता को पूरा कर दिया है। इस पुस्तक को पढ़कर मुझे निश्चय है कि जैन लोग जो अपने इतिहास की ओर से उदासीन प्रसिद्ध हैं, अपने अतीत को अपने सामने जगा हुआ देखेंगे"।

बा० बूलचन्द एम. ए. प्रो० हिन्दू कालेज देहलीः—

"पुस्तक को भली प्रकार देखने के बाद मैं यह कहने को तैयार हूँ कि पुस्तक एक ऐतिहासिक ग्रन्थ और प्रचार का साधन दोनों रूप में ही उपयोगी होगी।

बा० त्रिलोकचन्द प्रोफेसर हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारसः—

"इस पुस्तक से जैनपाठशालाओं में पाठ्यक्रमोपयोगी ऐतिहासिक पुस्तकों का अभाव दूर होगा, तथा विचारशील निष्पक्ष जनता पर भी इससे जैनधर्म के प्राचीनत्त्व की छाप पड़ेगी। पुस्तक की भाषा उत्तम है, शैली भी समयोपगी है। गोयलीयजी का परिश्रम अत्यन्त प्रशंसनीय है। आशा है वे इस दिशा में अपनी प्रगति अविछिन्न रखकर भविष्य में विशेष रूप से समाज को लाभान्वित करेंगे"।

बा० पूर्णचन्द नाहर, एम. ए., एल. एल. बी. कलकत्ताः—

"गोयलीयजी की लेखनकला ऐसी चित्ताकर्षक है कि पाठक

को स्वतः पढ़ने की इच्छा प्रबल हो जाती है।···मैं उनकी लेखन पद्धति, अगाध परिश्रम और इतिहास-प्रेम की मुक्तकंठ से प्रशंसा करता हूँ।"

वा० उमरावसिंह टांक, बी.ए. एल.एल.बी. प्लीडर देहली:—

"श्रीयुत गोयलीय कृत "मौर्य साम्राज्य के जैन-वीर" नामक निबन्ध मैंने देखा। वास्तव में निबन्ध शिक्षाप्रद, चित्ताकर्षक और रस-पूर्ण है।···मौर्य साम्राज्य के ऊपर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं; परन्तु प्रिय गोयलीय ने जिस भाव को लेकर यह पुस्तक लिखी है, वह अपने ढंग की अनूठी बेजोड़ और प्रथम है।"

वा० कीर्तिप्रसाद बी.ए. एल.एल.बी. अधिष्ठाता आत्मानन्द गुरुकुल गुंजरानवाला (पंजाब):—

"पुस्तक इतिहास का अच्छा अवलोकन करने के बाद लिखी गई है। श्रीचन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में अजैन होने के भ्रम को दूर करने का सार्थक प्रयत्न किया गया है।"

जैन पुरातत्त्व-वेत्ता पं० जुगलकिशोर मुख्तार:—

"अनेक उपवनों से फूल चुनकर जो आपने इतिहास का यह सुन्दर गुलदस्ता तय्यार किया है, उसका मैं अभिनन्दन करता हूँ। इसकी तैयारी में जो परिश्रम किया गया है और जिस प्रेम रंगी सुदृढ़ शब्द-डोरी से इसे बान्धा गया है वह सब प्रशंसनीय है। पुस्तक की विचारसरणी उत्तम है और उसमें चन्द्रगुप्त का धर्म वाला अंश अधिक महत्व रखता है। चन्द्रगुप्त के जैनत्व-सम्बन्ध में सत्यकेतुजी की यदि वे ही आपत्तियाँ हैं, जिनका आपने उल्लेख

किया है †, तो मैं समझता हूँ आप उनका निरसन करने में बहुत कुछ सफल हुये हैं। हाँ, आपके लेखकीय वक्तव्य में निराशामय जिस परिस्थिति का उल्लेख हुआ है, उसे पढ़कर चित्त को चोट लगी और दुःख पहुँचा। वास्तव में जैनसमाज की हालत बड़ी ही शोचनीय है, वह इतिहास और रिसर्च (शोध-खोज) के महत्व को कुछ भी नहीं समझता और इसलिये उससे ऐसे कामों में सहयोग, सहायता और प्रोत्साहन की अधिक आशा रखना ही व्यर्थ है"।

न्याय-व्याकरणतीर्थ पं० वेचरदास प्रो० गुजरात पुरातत्व-मन्दिर अहमदाबादः—

"पुस्तक लिखने में आपने जो परिश्रम किया है वह स्तुत्य है"।

विद्वद्वर्य्य पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बईः—

"पुस्तक अच्छी है और प्रचार होने योग्य है"।

मेहता किशनसिंह दीवान हाउस जोधपुरः—

"आपका परिश्रम सराहनीय है, आपने भारतवर्ष के प्राचीन गौरव को भली प्रकार प्रकाशित किया है।"

पं० कन्हैयालाल मिश्र "प्रभाकर" विद्यालंकार एम.आर.ए.एसः-

"पुस्तक पढ़कर लेखक के सम्बन्ध में बहुत अच्छी राय

---

† चन्द्रगुप्त के जैनत्व के विरोध में श्रीसत्यकेतुजी ने जो भी युक्तियाँ अपने "मौर्य-साम्राज्य के इतिहास" में दी हैं, वे सब की सब ज्यों की त्यों अक्षरशः मैंने "मौर्य-साम्राज्य के जैनवीर" में उद्धृत की हैं। और पुस्तक प्रकाशित होते ही सब से प्रथम रजिष्ट्री द्वारा सत्यासत्य निर्णय के लिये सौजन्यता के नाते उनके पास भिजवा दी गई थी। चार महिने होने आये, मुझे उक्त विद्वान् की अभी तक "मौर्य साम्राज्य के जैनवीर" पर आलोचना प्राप्त नहीं हुई है, नहीं मालूम इसका क्या कारण है?

—गोयलीय

क़ायम होती है। समाज यदि सम्मानित जीवन चाहती है तो, उसे ऐसे युवक-रत्नों का सम्मान करना चाहिये और ऐसी पुस्तकों का उचित प्रचार भी"।

बा० चन्द्रराज भण्डारी "विशारद' 'भानपुरा-इन्दौर:—

"पुस्तक पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई। पुस्तक अत्यन्त परिश्रम और खोज के साथ लिखी गई है। लेखक ने ऐतिहासिक रिसर्च करने में काफ़ी परिश्रम किया है। जैन-इतिहास जो कि अभी तक बहुत अंधकार में है-उसको प्रकाश में लाने का यह प्रयत्न अभिनन्दनीय है। भाषा भी इसकी दौड़ती हुई और मुहावरेदार है। मेरी ओर से लेखक को बधाई दीजिये"।

पं० के० भुजबलि शास्त्री अध्यक्ष जैनसिद्धांत-भवन आरा:—

"प्रस्तुत कृति सर्व प्रमाण और सर्वादरणीय है"।

पं० अजितकुमार शास्त्री मुलतान:—

"पुस्तक परिश्रम के साथ सजीव लेखनी से लिखी गई है। ऐसी ऐतिहासिक पुस्तकें ही समाज और देश के उत्थान में सहायक होती हैं"।

पं० दीपचन्द वर्णी, अधिष्ठाता ब्र०ब्र० आश्रम चौरासी, मथुरा:—

"इसे देखते ही मन इसीको पढ़ने में लग गया, और आद्योपान्त पढ़े बिना न रहा गया। इसकी भाषा और लेखनशैली ओजस्वनी है"

पं० महावीरप्रसाद जैन, देहली :—

"गोयलीयजी ने यह पुस्तक लिखकर जैनसमाज का मस्तक ऊँचा किया है। यह उनकी सवा दो वर्ष की तपस्या का चमत्कार है।···"

दैनिक अर्जुन २८-१-३३ देहली :—

"पुस्तक में वीर-रस प्रधान है। ···भाषा मुहाविरेदार और

रोचक है। लेखक का परिश्रम सराहनीय है"।

रंगभूमि २२-१-३३ देहली :—

"धार्मिक महत्व के अतिरिक्त इसका ऐतिहासिक महत्व भी काफी है। ...पुस्तक की यक्तियाँ सप्रमाण ग्राह्य हैं और धार्मिक संकीर्णता से दूर है। भाषा भी ओजस्वी है"

जैन-जगत वर्ष ८ अंक ६ अजमेर :—

"लेखक में उत्साह खूब है और पुस्तक पढ़ने से पाठकों में भी उत्साह का संचार होता है"।

जैन-मित्र २६-२-३३ सूरत :—

"पुस्तक पढ़ने योग्य है। बहुत परिश्रम से लिखी गई है"।

सनातन जैन १६-२-३३ बुलन्दशहर :—

"लेखक एक उत्साही परिश्रमी और विचारशील युवक है। ...उन्होंने इतिहास के कूड़े में से रत्न चुन चुनकर यह मणिमाला तैयार की है। भाषा बड़ी ओजस्वी और लेखनशैली युक्ति-युक्त सारगर्भित, पक्षपात रहित तथा समयोपयोगी है।

दिगम्बर जैन, सूरत :—

"वास्तव में पुस्तक बड़ी ही महत्वशाली है"।

जैन-संसार (उर्दू) १-२-३३ देहली :—

"...पुस्तक तवारीख की हैसियत से इस क़ाबिल है कि, उसे एक उच्च स्थान दिया जाय"

नोट—इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित परिवर्तित और संशोधित करके नवीन रूप में सचित्र प्रकाशित करने की योजना की जा रही है। मूल्य २०० पृष्ठ का केवल एक रुपया होगा।

पता– हिन्दी विद्या मन्दिर
पहाड़ी–धीरज, देहली।